भागवत दर्शन, खण्ड ७६

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि

भागवत दर्शन

खण्ड ७६

गीतावार्त्ता (८)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

✱

प्रकाशक

संकीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण
१००० प्रति

गंगादशहरा
२०२७

संशोधित मूल्य २-०० रुपया
[मू० १.६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्त उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अंग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेय है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वज्जनों के हाथों में पहुँची, लोगो ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते है उसे कथा मे सुनाते हैं उसका वर्णन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रही है। पत्र लिखकर 'अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

अपनी निजी-चर्चा

[७]

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथ—
श्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना ॥*

(श्री भाग० ५ स्क० १ अ०, १५ श्लो०)

छप्पय

यह जीवन भव-तरी आपु केवट हो स्वामी।
जित चाहो लै जाउ सरबथा हम अनुगामी॥
सुख दुःख जो कछु भाग्य माँहि तिहि हरषि सहिङ्गे।
'ऐसो मति प्रभु! करो' भूलि कें नाहिँ कहिङ्गे॥
इतनी विनती परि प्रभो, पद पदुमनि आश्रित रहैं।
कृपा दृष्टि की वृष्टि करि, दीन जानि जोहत रहैं॥

---

* हमारे गुण कर्मों के अनुकूल परमात्मा ने हमे जिन-जिन योनियों मे डाल दिया है, उन्ही-उन्ही को स्वीकार करके, उन्ही की, की हुई व्यवस्था के अनुसार हम सब सुख या दुःखों को भोगते रहते हैं। हमें कुछ पता नही चलता आगे क्या होगा, हम तो जैसे किसी अन्धे को आँख वाला लकुटी पकड़ जहाँ ले जाता है वही जाना पड़ता है उसी प्रकार हम प्रभु की इच्छानुसार अनुसरण करते हैं।

यह जीव पूर्वजन्मों के क्रमानुसार न जाने
सागर में भटक रहा है। यदि भटकते-भटकते
भक्तों का, सन्त पुरुषों का संग मिल जाय, भग
में मन रम जाय, तो इसका भटकना रुक जाय
प्रारब्ध कर्म सचय कर्मों की गठरी इसे न
योनियों में घुमाती रहेगी।

लोग कहते तो हैं, कि हम कर्म करने में
चाहें सो कर, हम ही स्वग बना सकते हैं नरक
सकते हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु य
है। हम प्रारब्ध कर्मों में इतने आबद्ध हैं उस
बंधे हुए हैं कि उसकी परिधि में ही रहकर
अधीन रहकर उसी की इच्छा के अनुसार काय
हमें पिछले जन्मों की याद रहती है, कि हमने
क्या किया और न आगे का ही स्मरण है क्य
यह एक प्रकार से अच्छा ही है। यदि हमें
सब घटनायें स्मरण रहें और आगे होने व
सम्बन्ध में भी जानकारी रहे तब तो हम उ
याद कर-करके ही महान चिन्ता में मग्न बने र

उस दिन छतरपुर से एक लड़की आयी थी
थी, हमारे यहाँ एक लड़की है, उसे अपने तो
बातें याद हैं। उसकी अवस्था १९-२० वर्ष क
पास है। वह बताती थी, पहिले जन्म में अम
मेरे चार लड़के थे। अन्तिम लड़का हुआ तब
हुआ। वह कष्ट मुझे अभी तक स्मरण है
वह सब बातें बताती थी, किसी ने ध्यान नहीं
स्मरण करके रोने लगी, तब उसे घरवाले वह

ाव से इस भव-
से कभी भगवत्
वत् कथा कीर्तन
गा। नहीं तो ये
जाने किन-किन

स्वतन्त्र हैं जो
का निर्माण कर
ह कथन मात्र ही
शृंखला में इतने
उस देव के ही
करते हैं। न तो
पिछले जन्मों में
-क्या करना है।
पिछले जन्म का
लो घटनाओं के
सब बातों को
ंगे।
। वह बता रही
न जन्मों की सब
ी है। एम० ए०
क स्थान में थी,
मुझे महान कष्ट
बालकपन से ही
दिया। जब बहुत
ं ले गये। उसने

अपने पति को, पुत्रों को, पुत्र वधुओं को जाते ही पहचान लिया बहुत सी गुप्त बातें बतायी, गढ़ी हुई वस्तुएं बतायी। मरकर फिर वह आसाम में एक ब्राह्मण की पुत्री हुई। वहाँ ८-९ वर्ष की थी तभी एक मोटर दुर्घटना में उसका देहान्त हो गया तो छतरपुर में जन्मी। इस प्रकार वह तीनों जन्म की बातें बताती है, तीनों परिवार वालों से उसका मोह है। अपने तीनों जन्मों के माता पिताओं के प्रति उसकी ममता है, अब विवाह हो जायगा तो एक नया सम्बन्ध हो जायगा। भविष्य का उसे ज्ञान हो जाय, तो उसकी भी चिन्ता रहेगी। यह विस्मृति बनाकर भगवान् ने जीवों को बहुत सी चिन्ताओं से मुक्त कर दिया। जीव को सब जन्मों की सब घटनायें याद रहती तो वह कितना चिन्तित रहता। भविष्य का भी ज्ञान रहता तो, भविष्य की घटनाओं को सोच-सोचकर मर जाता। अब जब हमें न तो बीते हुए जन्मों की याद है, न भविष्य में क्या होगा, इसी का पता है, फिर भी इस जन्म की बीती बातों के विषय मे विचार करते रहते हैं। भविष्य के मनसूबे बनाते रहते हैं। बिना जड़ पेंदी के भविष्य के किले बनाते रहते हैं, गन्धर्व नगरों का निर्माण करते रहते हैं। चाहे भविष्य का कुछ भी आभास हमें न हो फिर भी हम भविष्य की सोचे बिना रह नहीं सकते। भविष्य के विषय में घुना बुनी करते ही रहते है।

मथुरा कारावास में मैं सोचता था—यदि गोहत्या बन्द न हुई, तो मैं मथुरा की जेल मे मर जाऊँगा। अथवा सरकार से कोई समझौता हो गया तो छूट जाऊँगा। भविष्य के विषय में भाँति-भाँति के विचार उठते, फिर अपने मन को समझा लेता, जो होना होगा, वह हो जायगा, व्यर्थ की बातों के सोचने से क्या लाभ ? चित्त को भगवान् में लगाओ। अब तो अन्तिम

उपस्थित थे। पहिले तो उन्होंने अनेकों यन्त्रों द्वारा मेरे स्वास्थ्य की परीक्षा की। फिर मुझे बड़ी सावधानी से रुग्णीय सुख शैया (स्टेचर) पर लिटा कर ले गये। वे बड़ी सावधानी बरत रहे थे। शरीर हिलने न पावे, तनिक भी भूमि का स्पर्श न हो।" मुझे हँसी आ रही थी। सम्पूर्ण मार्ग में उछलता कूदता व्याख्यान देता हुआ आ रहा था। यहाँ ये कहते है हाथ न हिलने पावे। अस्तु अत्यन्त ही सावधानी के सहित वे मुझे नैनी केन्द्रिय कारावास में ले गये। यद्यपि मैं प्रयाग में कई बार राजनैतिक अन्दोलनों में पकड़ा गया, किन्तु मुझे यहाँ मदा मलाका जेल में ही रखा गया। जो उन दिनों प्रयाग की जिला जेल थी, और अब वहाँ बड़ा चिकित्सालय (अस्पताल) बन गया है। नैनी जेल में मैं कभी नहीं रखा गया। आज वहाँ भी आ गया। अधिकारियों ने मुझे उसी कक्ष मे रखा जहाँ पहिले महामना मदन-मोहन मालवीय जी को रखा गया। मथुरा के अधिकारी तो बहुत डरते थे, कि 'कोई नियम विरुद्ध कार्य न हो जाय' हमारी शिकायत न हो। यहाँ के अधिकारी तो सब जानते थे, मुझे ऐसा लगा, अपने घर में आ गया हूँ। रात्रि में आनन्द से शयन किया।

प्रातः काल नित्यकर्म पूजा पाठ से निवृत्त होने पर मुझे बड़ी ही सावधानी तत्परता और आराम के सहित उच्चन्यायालय के कक्ष मे ले जाया गया। यद्यपि यहाँ प्रयाग में मैं ४०-४५ वर्ष से हूँ किन्तु कभी उच्चन्यायालय के कक्ष नहीं देखे थे। कभी उच्चन्यायालय जाने का काम नहीं पड़ा था। कभी-कभी इच्छा होती, एक दिन चल कर देखूँ, वहाँ कैसे न्याय नाटक होता है, सो भगवान् ने स्वयं ही मुझे अभियुक्त बना कर यह इच्छा पूरी कर दी। यह नाटक दिखा दिया।

उच्च न्यायालय में बड़ा गम्भीर वातावरण था। बहुत से नर-नारी उस दृश्य को देखने आना चाहते थे। प्रयाग तो मेरा घर ही था, यहाँ का बच्चा-बच्चा मुझसे परिचित था। सहस्रों बच्चे मेरे सामने पढ़-पढ़कर उच्चन्यायालय के अधिवक्ता (एडवोकेट) हुए हैं। सैकड़ों मेरे परम भक्त स्नेही हैं। प्रान्त भर की कलह से उपजीविका करने वाले कलहोपजीवी अधिवक्ताओं का यह प्रधान अड्डा है न्यायालय के उच्चाधिकारियों ने मेरे बैठने का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध कर रखा था। बहुत सुन्दर-सी मंच बनाकर उस पर गद्दा तकियों का प्रबन्ध था। उच्चन्यायालय में चाहें राष्ट्रपति ही क्यों न जाय, उसे खड़े होकर अपना वक्तव्य देना पड़ता है। मेरे दोनों न्याय मूर्तियों ने मुझसे कहलाया कि—ब्रह्मचारी जी चाहें तो बैठकर वक्तव्य दे सकते हैं या लेट कर उनको खड़ा होने की कोई आवश्यकता नहीं।" किन्तु मैंने न्यायालय का सम्मान करने के लिये जो भी वक्तव्य दिया-खड़े होकर ही दिया और न्यायाधीशों के आने पर भी मैं उनके सम्मान में खड़ा हो जाता था। यद्यपि वे ऐसा करने को बार-बार मना करते थे, किन्तु मैंने कहा—"नहीं मुझे न्यायालय का और न्यायाधीशों का सम्मान करना ही चाहिये।"

ऐसा लगता था, कि उसी दिन सभी न्यायालयों का कार्य छोड़कर समस्त अधिवक्ता यहीं आ गये थे। सैकड़ों सहस्रों छोटे, बड़े, बड़े से बड़े वकील उस अभियोग को देखने उसमें सहयोग देने आ गये थे। मैं पहिले अनुमान भी नहीं कर सकता था कि वकील लोग अपने अभियुक्तों को छुड़ाने के लिये कितना भारी परिश्रम करते हैं। कितने साधन, तर्क उन्हें जुटाने पड़ते हैं। रज्जू भैया ने, चौधरी वीरेन्द्र सिंहजी ने तथा हमारे समस्त सहयोगी बन्धुओं ने इस अभियोग में कितना परिश्रम किया।

हमारे कुञ्जरू जी, खरेजी, भार्गव जी, मिश्र जी तथा जिनका नाम धाम मैं नहीं जानता उन्होंने रात्रि-रात्रि भर जाग कर, कितने प्रमाण जुटाये, कितनी श्रेणियाँ निर्माण की। सरकारी वकील पं० कन्हैयालाल जी मिश्र भी अपने परिचित बन्धु तथा भक्तों में से थे, किन्तु उनकी विवशता मैं उनके मुख पर पढ़ रहा था। वे ऊँचा मुख कर कभी मेरी ओर ताके नहीं। उन्हें कितना दुष्कर कर्म करना पड़ रहा था। जिनके प्रति हमारा अगाध आदर है, उनके विरुद्ध अभियोग सिद्ध करना कितना कठिन कार्य है, किन्तु कर्तव्य पालन में सब कुछ करना पड़ता है। सब दर्शकों अधिवक्ताओं को उस इतने बड़े न्याय भवन में स्थान ही नहीं था। लौह टोपधारी सैनिक बाहर से लोगों को रोक रहे थे, किन्तु वकीलों को अधिवक्ताओं को उनके सगे सम्बन्धियों को कौन रोक सकता था। जो लोग किसी सम्बन्ध से भीतर जा सके वे भीतर गये, नहीं सहस्रों नर-नारी बाहर ही खड़े-खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे।

न्यायाधीशों ने जब देखा वकीलों की, सुप्रतिष्ठित दर्शकों की भीड़ अत्यधिक है, तो उन्होंने आज्ञा दी। न्याय कार्य श्रेष्ठतम न्यायाधीश (चीफ जस्टिस) के न्याय कक्ष में होगा। तब तुरन्त वहाँ प्रबन्ध किया गया। यद्यपि वह भवन बहुत बड़ा था, फिर भी उसमें तिल रखने को स्थान शेष न रहा। बहुत से लोग वहाँ भी बाहर खड़े रहे।

हमारी ओर से प्रयाग के सुप्रसिद्ध अधिवक्ता खरेजी बोलते थे और सरकार की ओर से महाधिवक्ता पं० कन्हैयालाल जी मिश्र तथा उनके अनेक सहयोगी बन्धु।

सबसे पहिले हमारे वकील ने यह ही नियमापत्ति उठायी, कि इनको किस अभियोग में पकड़ा गया और अभियोग पत्र

तीन दिन के अन्दर क्यों नहीं दिया गया। मैं पहिले समझता था, सरकार जिसे चाहे जितने दिन तक इच्छानुसार पकड़ सकती है, जब तक चाहे कारावास में रख सकती है। तीसरे या किन्तु चौथे दिन एक अभियोग पत्र मुझे दिखाया अवश्य गया था, मैंने यह कहकर उसे लेने से मना कर दिया कि मुझे हिन्दी में अभियोग पत्र दिया जाय। किन्तु हिन्दी जैसी पिछड़ी तिरष्कृत भाषा में अभियोग पत्र कौन तैयार करे।"

मैं तो वहां की कार्य प्रणाली देखकर चकित रह गया। सरकार की ओर से कहा गया—"ब्रह्मचारी जी ने अमुक तिथि को वृन्दावन में एक ऐसा सार्वजनिक सभा में भाषण दिया, जिससे देश में बलवा हो सकता था, इसी अभियोग में हमने इन्हें पकड़ा है।

किन्तु उस तिथि को मैं वृन्दावन में था ही नहीं। उस तिथि को तो मैं अहमदाबाद में था। वहां मेरा बड़ा भारी जुलूस निकला। शारदा पीठ के शंकराचार्य जी के सभापतित्व में बड़ी भारी सभा हुई। प्रेस प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। उस दिन रात्रि के वायुयान से मैं देहली आने वाला था, किन्तु हमारे देहली के बन्धुओं ने दूरभास पर हमारे लोगों से कहा—देहली में उतरते ही ब्रह्मचारी जी को वायुयान स्थल पर ही पकड़ लिया जायगा, अतः उन्हें जयपुर ही उतार लो। हमारे साथियों ने देहली के वायुयान के टिकट बदलवा कर जयपुर के कराये। रात्रि में हम जयपुर उतरे। वहाँ कार्यकर्ताओं की सभा हुई, प्रेस प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। मेरा प्रेस वक्तव्य वहाँ के समाचार पत्रों में छपा। फिर हम रात्रि में ११-१२ बजे एक किराये की मोटर से वृन्दावन को चले। दूसरे दिन प्रातः वृन्दावन पहुँचे। उस तिथि को तो वृन्दावन में हमारी उपस्थिति

किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती थी। हमारे वकीलों ने बड़ी ही युक्तियों से इस बात का खण्डन किया कि सरकारी सूचना मन गढ़न्त है। उन्होंने उस दिन के हमारी शोभा यात्रा के समाचार पत्रों में प्रकाशित सब चित्र, समाचार, पत्र प्रतिनिधि सम्मेलन में दिये समस्त वक्तव्य हमारी वायुयान की जयपुर वाली सभी टिकटें, किराये की गाड़ी का नम्बर, जयपुर के समाचार, प्रेस वक्तव्य सभी न्यायालय में उपस्थित किये। मुझे आश्चर्य हो रहा था, इतनी सब सामग्री चौधरी वीरेन्द्र सिंह जी ने कहाँ से एकत्रित कर ली थी और इतने अल्प समय में।

सरकारी महाधिवक्ता बारबार दूरभाष यन्त्र से मथुरा के जिलाधीश से पूछें—भाई, किस आधार पर तुम कहते हो उस दिन उन्होंने वृन्दावन में भाषण किया जिलाधीश कहे—हमारे गुप्तचर दीवान (सी० आई डी० के हेडकानिस्टेबिल) ने उन्हे जीप में बैठे देखा था। सरकारी सभी यन्त्र इस बात को सिद्ध करने में संलग्न थे कि उस तिथि की मेरी उपस्थिति वृन्दावन में सिद्ध कर दी जाय। जयपुर में हमारा वायुयान सायकाल पहुँचा था। सरकारी लोगों ने वायुयान की समय सारिणी में यह पता लगाया कि जयपुर से उस समय कोई वायुयान आगरा आता हो तो हम यह सिद्ध कर दें कि जयपुर से उतर कर वे आगरे के वायुयान में बैठ गये। आगरे से वृन्दावन मोटर से घन्टे भर का मार्ग है। रात्रि के बारह बजे भी पहुँचना सिद्ध हो जाय, तो बात बन जाय। दूरभाष और आकाशीय समाचार द्वारा जयपुर से पता लगाया गया। जिनके यहाँ मैं ठहरा था वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के स्वामी, पं० हजारीलाल जी शर्मा का वक्तव्य लिया गया, किन्तु बात कोई बनी नहीं। जयपुर से प्रातःकाल तक कोई वायुयान आगरे नहीं आता था। जयपुर रात्रि में उतरकर किसी भी

वाहन द्वारा हम उस दिन वृन्दावन नहीं पहुँच सकते थे।

जब किसी भी प्रकार सरकारी अधिवक्ता अपनी बात को दो दिन के पूर्व प्रयत्न से सिद्ध कहने में समर्थ न हुए, तो दूसरे दिन सायंकाल, मे उन्होंने प्रान्तीय सरकार को सम्मति दी, इस अभियोग को तुरन्त लौटा लो, ब्रह्मचारी जी को तुरन्त छोड़ दो।"

मुझे दोनों ओर के वाद विवाद में बड़ा आनन्द आ रहा था। ऐसा भव्य नाटक मैंने जीवन में पहिले पहिल देखा था। न्यायाधीशों की वह गम्भीर मुद्रा, तथा अधिवक्ताओं की जो हास्यरस से संपुटित एक दूसरे को चिढाने वाली युक्तियाँ उस गम्भीर वातावरण में भी सरसता बिखेर रही थी।

मै गोरक्षा अभियान समिति का अध्यक्ष था हमारे १० लाख के जुलूस पर सरकार की ओर से गोलियाँ चलायी गयी थीं। बहुत से आदमी मारे गये। किसी प्रसग मे हमारे वकील खरे साहब ने कहा—"यह सब काम गुंडो का था।"

न्यायाधीश ने कहा—"गुंडो का काम? तब उन लोगों को गुंडा अधिनियम के अनुसार पकडा क्यों नहीं गया?"

खरे साहब ने बनावटी गम्भीरता के स्वर में कहा—"श्रीमान्! वे पकड़े कैसे जाते। वे साधारण गुन्डे नहीं थे। कांग्रेसी गुन्डे थे।"

"कांग्रेसी गुन्डे" शब्द को सुनते ही वहाँ उपस्थित सभी वकील, दर्शक ठठाका मारकर हँस पड़े। न्यायाधीश भी अपनी हँसी को न रोक सके। न हँसने वालों में हमारे सरकारी महाधिवक्ता मिश्र जी ही एक थे।

मै आश्चर्य कर रहा था, कि ये वकील लोग इतने बड़े न्यायालय में भी ऐसी कड़ी-कडी बातें कैसे कह जाते हैं और इन पर कुछ अभियोग भी नहीं लगाया जाता।

दो दिन मुझे न्यायालय में उपस्थित होना पड़ा।

तीसरे दिन प्रातः ८-६ बजे कारावास के अधिकारियों ने मुझे सूचना दी कि "सरकार ने प्रमाण के अभाव में आप पर से अभियोग उठा लिया है। आपको मुक्त कर दिया गया है। आप जहाँ चाहें वहाँ आपको पहुँचा दें।"

मैंने कहा—"एक बार मैं पुनः उच्चन्यायालय के न्याय भवन में जाना चाहता हूँ।"

अधिकारियों ने मुझे उच्चन्यायालय में पहुँचा दिया। वहाँ मेरे अपने परम सहयोगी श्री गजाधर प्रसाद भार्गव आदि बन्धु मेरे पास आये और बोले—"आप पर से मुकदमा तो उठा लिया गया। अब न्यायालय में आपको आने की कोई आवश्यकता नहीं।"

मैंने कहा—"न्यायाधीशों के सम्मुख में एक वक्तव्य देना चाहता हूँ।"

मेरे सहयोगी बन्धुओं ने कहा—"जब आप पर से मुकदमा उठा ही लिया गया, तो नियमानुसार अब आपको वक्तव्य देने का अधिकार नहीं।"

मैंने कहा—"न्यायाधीशों से मेरी ओर से आप निवेदन कर दें कि मैं एक वक्तव्य देना चाहता हूँ। यदि वे स्वीकार न करेंगे, तो मैं लौटकर अपने झूसी आश्रम में चला आऊँगा।"

मेरे सहयोगियों ने न्यायाधीशों से निवेदन किया, उन्होंने आज्ञा दी—"हाँ, ब्रह्मचारी जी को बुलाइये।" मै देख रहा था, न्यायाधीश इस अभियोग में आन्तरिक रस ले रहे थे।

मुझे क्रोध आ रहा था, कि सरकारी लोगों ने अकारण मुझे परेशान किया और क्रोध, इस बात पर भी आ रहा था, कि जब झूठा मुकदमा बनाना ही था, तो बना भी न सके। अतः न्याय

भवन में जाकर न्यायाधीशों की अनुमति से समस्त अधिवक्ताओं के सम्मुख मैंने एक अत्यन्त ही कड़ा वक्तव्य दिया। मैंने कहा— मुझे सब जानते हैं, मैं यथाशक्ति झूठ नहीं बोलता, मैं कभी किसी को हिंसा के लिये नहीं उभाड़ता, लगभग ४० वर्ष से मैंने मौन व्रत धारण किया है। मैं इतने दिनों से देश का कार्य कर रहा हूँ, कई बार जेल गया हूँ किन्तु कभी भी मेरे ऊपर लोगों को भड़काने का बलवा कराने का अभियोग नहीं लगाया गया। किन्तु आज अनशन के पूर्व मेरे ऊपर बलवा कराने का अभियोग लगाकर मुझे झूठ-मूठ पकड़ा गया है। अभियोग सिद्ध न होने पर मुझे छोड़ दिया गया है। यह तो ऐसे ही हुआ किसी के सिर पर जूती मारकर फिर उससे कह दिया जाय, भूल से जूती मार दी, अब तुम प्रसन्नता पूर्वक अपने घर चले जाओ। जब मुझ जैसे साधक सुप्रसिद्ध व्यक्ति के प्रति सरकार का ऐसा व्यवहार है, जिसकी वैधानिक रक्षा के लिये सहस्रों वकील अधिवक्ता तत्पर हैं, तो उन वेचारे असहाय, निर्बल साधनहीन साधारण लोगों के ऊपर तो मनमाने अभियोग चलाये जाते होंगे। क्योंकि वे अपने बचाव के लिये वकील नहीं कर सकते। द्रव्य व्यय नहीं कर सकते। इस प्रकार आक्रोश के शब्दों में मैं लगभग आधे घन्टे बोलता रहा। न्यायाधीश चुपचाप शांत भाव से मेरे वक्तव्य को सुनते रहे। उन्होंने बीच में एक शब्द भी न कहा, न मुझे टोका ही।"

इसी प्रकार मैं वक्तव्य देकर तुरन्त वहाँ से चल दिया। सरकारी अधिवक्ता हमारे वकील पर बड़े क्रुद्ध हुए और बोले— "जब हमने प्रातः ७ बजे ही अभियोग उठा लिया था, तो इन्हें फिर न्यायालय के सम्मुख क्यों उपस्थित किया ?

हमारे वकील ने द्विगुणित क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहा— "हमें क्या पता था, कि आपने अभियोग उठा लिया, आपने कोई

लिखित सूचना तो हमें दी नहीं। १० बजे जब हम न्यायालय में आये तब हमें पता चला। तब ब्रह्मचारी जी अपना वक्तव्य दे रहे थे।"

नहला पर देहला लगा देखकर बेचारे चुप हो गये। मैं अपने झूमी के आश्रम में आ गया।

जब यह मामला समाप्त हो गया, तो एक दिन सरकारी महाधिवक्ता हमारे वकील के पास गये और बोले—"भाई, अब तो जो होना था, सो हो गया। अब ठीक-ठीक बता दो। हमारा मथुरा का जिलाधीश तो दृढ़ता के साथ कहता है, उस दिन ब्रह्मचारी जी को हमारे आदमियों ने वृन्दावन में देखा था। उनके व्याख्यान की प्रतिलिपि है। और आप लोग कहते हो, कि वे उस दिन अहमदाबाद में थे। तुम लोगों ने सिद्ध भी कर दिया अब यह बता दो, यथार्थ बात क्या है?"

हँसकर हमारे वकील ने कहा—"यथार्थ बात यह है, कि हमारे ब्रह्मचारी जी में ऐसी सामर्थ्य है, कि वे एक समय में अहमदाबाद भी रह सकते हैं और वृन्दावन भी रह सकते है।"

यह सुनकर वे हँस पड़े और बोले—"तुम लोग तो ऐसे ही झूठी बात बनाया करते हो।"

जब यह बात मुझसे लोगों ने बतायी, तो मैंने कहा—"दाढ़ियों की वृन्दावन में कमी नहीं। कोई दीवान ने और भूरी दाढ़ी देखी होगी।" पीछे मुझे पता चला, जिस कर्मचारी के नाम से यह वक्तव्य तैयार कराया गया था उसे नौकरी से निकाल दिया गया। मुझे बड़ा दुःख हुआ, कि मेरे कारण एक व्यक्ति की रोटी मारी गयी।

अब आगे जैसे गोलोक में जाकर अनशन के दिवस बीतें यह

कहानी आगे के खंडों में पढ़िये। इतना ही स्थान था, वह पूरा हो गया।

छप्पय

मेरे न्यायाधीश ! न्याय मेरो करि देओ।
जो मैं पापी अधम दंड जो चाहो देवो॥
दीनबन्धु तव नाम दीन अब कहँ खोजोगे।
मो सम को है दीन दया करि कब जोहोगे॥
दीनबन्धु तुम सम नहीं, तुम हो प्रभु ! असरन सरन।
तुरवाओ सम्बन्ध सब, देओ निज चरननि शरन॥

गीता-माहात्म्य

[६]

श्रीकृष्णगान गीतकं सुदिव्य नवाध्मायकम् ।
समस्त पापनाशकं कुदान कष्टहारकम् ॥
विपत्ति विघ्नदारकं भवाब्धिशीघ्र तारकम् ।
पठन्तु भो सुधीजना सुभुक्ति मुक्तिदायकम् ॥❀

(प्र० द० ब०)

छप्पय

अब नवमें अध्याय महातम सुनहु सुधीजन ।
माधव द्विज इक यज्ञ करयो आये पण्डितगन ॥
बकरा बलि जब करें कहे अज का फल जाते ।
पठा नवम अध्याय करो भव तरिहो ताते ॥
मम पतिनी सुत हित निमित, बलि अज कीयो हौं दयो ।
शाप तासु जननी दयो, ताहि तें हौं अज भयो ॥

❀ *श्री कृष्ण भगवान् का गाया हुआ जो श्रीमद्भगवत् गीता है,* उसका जो सुन्दर नवमां अध्याय है, वह समस्त पापों को नाश करने वाला है, कुदान लेने से जो कष्ट होते हैं उनको हरण करने वाला है, विघ्न विपत्तियों को नाश करने वाला है संसार सागर से शीघ्र तारने वाला है, हे बुद्धिमान पुरुषो ! भुक्ति और मुक्ति देने वाले उस अध्याय को नित्य पढ़ा करो ।

यज्ञ यागों में जो यह पशु वलि की प्रया है, वह पहिले नहीं थी। ग्रज की वलि देनी चाहिये यही वेद का वचन है। अव 'अज' शब्द के ही सम्वन्ध में वाद विवाद उठा। ऋपि गण तो कहते थे, कि 'अज' का अर्थ वोज है। किसी भी वीज को भून दो तो वह पुनः पैदा न होगा। धान में से वीज को पृथक् कर दो, तो वह पुनः पैदा न होगा। ग्रतः अज माने चावल, अन्न या वीज है।

इसके विपरोत देवता कहते थे, अज का प्रत्यक्ष ग्रर्थ वकरा है, अतः यज्ञों में वकरे की वलि देनी चाहिये। दोनों में वहुत वड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। दोनों ने कहा—"किसी मध्यस्थ से इसका निर्णय कराना चाहिये।

उन दिनों एक धर्मात्मा राजा उपरिचर वसु थे। तपस्या के प्रभाव से उन्हें एक विमान प्राप्त था, वह ऊपर उड़ता था, राजा ऊपर ही ऊपर ग्राकाश में घूमते थे अत. उनका नाम 'उपरिचर' प्रसिद्ध हो गया। उनके धर्मात्मा होने का दोनों को ही विश्वास था ग्रतः दोनों ने ही उन्हें मध्यस्थ स्वीकार कर लिया। दोनों ने कहा—राजन् ! ग्राप विना पक्षपात के वता दो 'अज' शब्द का ग्रर्थ क्या है ?

वास्तव में तो अज शब्द का अर्थ बीज ही था, किन्तु राजा ने देवताओं के प्रभाव में ग्राकर उनका पक्षपात किया। कह दिया—अज का अर्थ तो वकरा ही है। ऋपियों ने उन्हें शाप दिया—आज से तुम्हारो गति आकाश में उड़ने की न रहेगी। तुम पृथ्वी पर ही चला करोगे। तभी से यज्ञ यागों में वकरे की वलि देने की प्रथा प्रचलित हो गयी इस पशु वलि की प्रथा की प्रशंसा पडितों ने नहीं की है।

महाराज प्राचोनवर्हि वड़े हो प्रसिद्ध कर्म कांडी थे।

उन्होंने यज्ञों का ऐसा तांता लगा दिया कि समस्त पृथ्वी को यज्ञ की कुशाग्रों से ढाँक दिया। नारद जी ने सोचा—ऐसा धर्मात्मा राजा क्या इन हिंसामय कर्मों में ही फँसा रहेगा। दया के सागर, परोपकार परायण, पर दुःख कातर देवर्षि नारद जी राजा प्राचीनवर्हि के पास गये और बोले—राजन् ! तुम सदा कर्म कांड में फँसे रहोगे क्या ?

राजा ने कहा—"स्वामिन् ! क्या करूँ, मेरी बुद्धि तो सकाम कर्मों में ही फँसी हुई है। इन कर्मों के अतिरिक्त भी कोई कल्याण का मार्ग है उसे मैं नहो जानता। मेरे कर्म कांडो आचार्यों ने तो मुझे यज्ञ याग बलि पशु स्वर्ग सुख इन्हीं बातों का उपदेश दिया है। इसीलिये यज्ञ करता हूँ, यज्ञों में पशु बलि देता हूँ।"

नारद जो ने अपने योग बल से आकाश में उन सब पशुओं को बुला लिया, जिनका बलिदान राजा ने यज्ञों में दिया था। फिर राजा से कहने लगे—"राजन् ! तनिक ऊपर आकाश में तो देखो, ये कौन जन्तु दिखायी दे रहे हैं ?

राजा ने देखा—बड़े-बड़े भैंसा, बकरा आदि पशु क्रुद्ध हुए खड़े हैं, वे अपने तीखे सींगों से किसी को मारने के लिये उद्यत हैं।

राजा ने पूछा—देवर्षे नारद जो ! ये पशु कौन है ?

हँसकर नारद जो ने कहा—राजन् ! यज्ञों में जिनका तुमने निर्दयता पूर्वक बध किया है। जिनकी तुमने बलि दी है ये वे ही पशु हैं।

राजा ने पूछा—ब्रह्मन् ये इतने कुपित क्यों हो रहे हैं ?

नारद जी ने कहा—राजन् ! किसी को भी कैसे भी तुम अस्त्र-शस्त्रों द्वारा काटोगे, किसी की हिंसा करोगे, तो उसे कष्ट

नही होगा क्या ? तुमने जो इनका वलिदान किया है, दुःख दिया है, उन्हीं दुःखों को स्मरण करके ये अत्यन्त कुपित हो रहे हैं।

राजा ने भयभीत होकर पूछा—ब्राह्मन् ! ये चाहते क्या हैं ?

नारद जी ने कहा—"राजन् ! ये तुमसे वदला लेना चाहते हैं। जैसे तुमने इन्हें मारा है, ऐसे ही ये अपने तीखे-तीखे सींगों से तुम्हारे उदर को विदीर्ण करना चाहते हैं। ये इसी प्रतीक्षा में वैठे हैं कि तुम मरकर जव परलोक जाओगे तव ये तुमसे अपना वदला लेंगे।"

राजा ने भयभीत होकर परम जिज्ञासा के साथ पूछा—ब्रह्मन् ! इनसे वचने का उपाय क्या है ?

इस पर नारद जी ने राजा को पुरंजनोपाख्यान सुनाया और आत्म तत्त्व का उपदेश दिया।

वात यह है कि ये सकाम कर्म स्वर्गादि लोकों को ही प्राप्त कराने वाले हैं। इन हिंसा प्रधान सकाम कर्मों से परम शाति की प्राप्ति नही होती और विशेप कर कलिकाल में तो ऐसे हिंसात्मक यज्ञ निपेध हैं। सवसे वड़ा यज्ञ तो जप यज्ञ है, किसी भी मन्त्र का श्रद्धा भक्ति के साथ निरन्तर जप करता रहे तो उसे सिद्धि प्राप्त हो जायगी। गीता जी के सात सौ श्लोक मन्त्र रूप ही हैं जिनमें से जिस किसी भी अध्याय पर अपनी श्रद्धा हो उसका निरन्तर जप करता रहे। माला लेकर गिनता रहे आज मैंने कितने पाठ किये। तो ऐसे श्रद्धा भक्ति पूर्वक मन्त्र जप करने वाले को परम सिद्धि निश्चित रूप से प्राप्त सो सकती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अव मैं आपको नवमें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिवजी ने पार्वती को और विष्णु भगवान् ने लक्ष्मी जी को सुनाया था।

परम पावन जल वाली भगवती नर्मदा नदी के पावन तट पर माहिष्मती नाम की एक अत्यन्त ही प्राचीन नगरी है। उसमें चातुर्वर्ण के लोग निवास करते थे। प्राचीन काल में माधव नाम का एक कर्मकांडी ब्राह्मण उस नगरी में रहता था। वह वेद वेदाङ्गों का ज्ञाता था। अतिथियों का भक्त था। दूर-दूर तक उसकी ख्याति थी। जहाँ भी कहीं यज्ञ याग होते उनमें वह अवश्य बुलाया जाता था। इस प्रकार उसने यज्ञ याग कराके दान पुण्य लेकर बहुत सा धन एकत्रित किया।

एक बार उसने सोचा—मैं दूसरों को तो यज्ञ कराता हूँ। स्वयं यज्ञ नहीं करता मेरा यह इतना धन किस काम आवेगा। धन की सार्थकता तो दान यज्ञ में ही है जो धन दान धर्म यज्ञादि में व्यय होता है वही सुकृत में लगता है। यही सोचकर उसने एक महान् यज्ञ का आरम्भ किया।

पशुबलि वाला ही यज्ञ वह कराया करता था, अतः उसने अपने यज्ञ में भी बलि देने को एक अच्छा सा हृष्ट पुष्ट बकरा मँगाया। शास्त्रीय विधि से नियमानुसार उसकी पूजा करायी, शुद्धि करायी। ज्योंही उसका बलिदान करने को उद्यत हुए, त्योंही उसने मनुष्य की वाणी में हँसते हुए कहना प्रारम्भ कर किया—ब्राह्मण देवता! इन हिंसा प्रधान बहुत से यज्ञों से क्या लाभ? इनसे जन्म मरण का चक्कर तो छूटता नहीं। परम शांति का प्राप्ति तो होती नहीं उलटे ये यज्ञ बार-बार मृत्यु के कारण होते हैं।

बकरे के मुख से मनुष्य वाणी में ऐसी बात सुनकर सभी समुपस्थित याज्ञिक तथा यजमान आदि चकित हो गये। ब्राह्मण ने परम आश्चर्य के साथ हाथ जोड़ कर बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ

पूछा—महाभाग ! आप बड़ा दिव्य उपदेश कर रहे हैं। आप पूर्वजन्म में कौन थे ?

बकरे ने कहा—"पूर्वजन्म में मै भी ब्राह्मण ही था। मै भी आपकी ही भांति सत्कुलोद्भव यशस्वी था। मैंने भी वेद और वेदाङ्गों का विधिवत् अध्यन किया था।"

यजमान ने पूछा—"फिर आपको यह बकरे की योनि कैसे प्राप्त हुई ?"

बकरा बोला—मेरी धर्मपत्नी भी कर्मकाण्ड में श्रद्धा रखने वाली थी। मेरे एक पुत्र था। एक बार मेरा पुत्र रोगग्रस्त हो गया। मेरी पत्नी ने कहा—"प्राणनाथ। मैंने भगवती दुर्गादेवी की मनौती मानी है कि मेरा पुत्र अच्छा हो जाय, तो देवीजी में तुम्हें एक बकरे की बलि दूंगी। सो मुझे कहीं से एक बकरा ला दीजिये।"

अपनी पत्नी के कहने पर मैने एक बकरी का बच्चा लाकर उसे दिया। भगवती चण्डिका देवी के मंदिर में जब बकरे का बलिदान हो रहा था, उसी समय कहीं से उस बकरे की माता बकरी भी वहां आ गयी। अपने बच्चे का बलिदान देखकर कुपित हुई बकरी ने मुझे शाप दिया—"तू मेरे बच्चे की बलि देना चाहता है, अतः जा तू भी बकरा होगा और तुझे भी ब्राह्मण लोग बलिदान के लिये ले जायंगे।"

सो ब्रह्मन ! उस बकरी के शाप से ही मै बकरा बन गया हूं। यद्यपि मेरा जन्म पशु योनि में हुआ, फिर भी पूर्वजन्मों के सुकृतों के कारण मुझे पूर्वजन्म की सब बातें याद है। इसलिये ब्रह्मन् ! आप इतने भारी विद्वान् होकर इन हिंसामय कर्मों में क्यों लगे हुए है। आप मेरी दशा से ही शिक्षा ग्रहण करलें।

यजमान ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर पूछा—"तब हम क्या करें परम शान्ति के लिये कौन-सा उपाय करें ?"

बकरे ने कहा—"ब्रह्मन्–स्वाध्याययज्ञ करें, जिसे जप यज्ञ भी कहते हैं।"

यजमान ने पूछा—किसका स्वाध्याय करें। कौन से मन्त्र का जप करें ?

बकरे ने कहा—इस सम्बन्ध में मैं आपको एक कहानी सुनना चाहता हूँ, उसी में आपके प्रश्नों का उत्तर आ जायगा। आपकी आज्ञा हो तो कहानी सुनाऊँ ?

यजमान तथा अन्यान्य हवन करने वाले ब्राह्मणों ने कहा—"हाँ-हाँ अवश्य सुनाइये हम उसे बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ सुनने को उत्सुक हैं।"

बकरे ने कहा—विप्रवर ! कुरुक्षेत्र नाम का एक बहुत ही पवित्र धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र है। उसमें एक चन्द्र शर्मा नाम का सूर्यवंशी राजा राज्य करता था। वहाँ पर जब-जब भी सूर्य ग्रहण लगता है, तब-तब लाखों की संख्या में धर्मप्राण प्रजाजन स्नान करने आते हैं। एकबार सूर्य ग्रहण का मेला लगा। वहाँ कालपुरुष के दान का बड़ा महात्म्य है। कालपुरुष के दान को सब ब्रह्मण नहीं लेते। क्योंकि उस दान को पचाना अत्यन्त ही कठिन है। जो अधम ब्राह्मण होते हैं वे ही ऐसे कुदानों को लेते है। राजा बड़े प्रभावशाली थे। उनके राज्य में एक वेद वेदाङ्गों का पारगामी बड़ा ही तपस्वी ब्राह्मण था। राजा ने जिस किसी प्रकार उसे कालपुरुष का दान लेने को मना लिया। राजा उस ब्राह्मण को लेकर अपने पुरोहित के साथ तीर्थ में स्नान करने गये। तीर्थ स्नान करके उसने पवित्र दो वस्त्र धारण किये, श्वेत चंदन लगाया, सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्म से निवृत्त होकर,

प्रसन्नता पूर्वक अपने स्थान पर लौट आये और आकर उस ब्राह्मण को उन्होंने कालपुरुष का दान किया।

दान ग्रहण करते ही एक अद्भुत चमत्कार हुआ। उस काल पुरुष के हृदय से पाप रूपी चांडाल के रूप में एक पुरुष और निन्दा के रूप में एक चाण्डाली स्त्री उत्पन्न हुई। वे दोनों लाल-लाल आँखें किये हुए उस ब्राह्मण के शरीर में प्रवेश करने लगे।

कालपुरुष के दान से पाप तथा निन्दा करने के जितने कल्मष हैं व हट जाते हैं और वे पाप दान ग्रहण करने वाले के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। दान ग्रहण करने वाला उन पापों के कारण काला पड जाता है।

ब्राह्मण उन दोनों को अपनी ओर आते हुए देखकर तनिक भी विचलित नहीं हुए, क्योंकि वे श्रीमद्भगवत् गीता के नवमें अध्याय का निरन्तर पाठ करते रहते थे, निरन्तर के पाठ से भगवान् वासुदेव उनके हृदय में सदावास करते थे। इससे वे ब्राह्मण निर्भय बने हुए थे। जब वे पाप और निन्दा रूप चांडाल चांडाली उनके समीप ही आ गये, तब गीता के नवमें अध्याय के अक्षरों से सहसा शख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी विष्णु दूत प्रकट हो गये। उन विष्णु दूतों ने उन चांडाल चांडाली को मार भगाया इसलिये वे दोनो ब्राह्मण के शरीर में प्रवेश नहीं कर सके।

इस घटना को राजा प्रत्यक्ष देख रहे थे। उन्होंने ब्राह्मण से पूछा—विप्रवर ! ये जो छाया की भाँति दो स्त्री पुरुष दिखायी दिये ये कौन थे ?

ब्राह्मण ने कहा—राजन् ! यह जो काला-काला पुरुष था यह तो पाप था यह चांडाल रूप में प्रकट हुआ था। दूसरी जो स्त्री

थी वह निन्दा की साक्षात् मूर्ति थी। ये मेरे शरीर में प्रवेश करना चाहते थे।

राजा ने पूछा—फिर इन्होंने प्रवेश क्यों नहीं किया ? ये डर कर भग क्यों गये ?

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! भगवान् विष्णु के दूतों ने उन्हें भगा दिया।

राजा ने पूछा—भगवान् विष्णु के दूत कहाँ से आ गये ?

ब्राह्मण ने कहा—मै जिन मन्त्रों का जप कर रहा हूँ, उन्हीं मन्त्रों के अक्षरों से मेरे हृदय में निवास करने वाले भगवान् जनार्दन की आज्ञा से विष्णुदूत प्रकट हो गये और उन्होंने उन दोनों को मारकर भगा दिया।

राजा ने पूछा—ब्रह्मन्! आप किन मन्त्रों का जप कर रहे थे ?

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मै निरन्तर श्रीमद्‌भगवत् गीता के नवमें अध्याय के मन्त्रों का जप करता रहता हूँ? नवमें अध्याय के निरन्तर पाठ से मेरे हृदय में भगवान् वासुदेव निवास करते है। उनकी कृपा से मेरे समस्त संकट दूर हो जाते हैं। मुझे कोई भी विघ्न बाधा नही पहुँचा सकते। यद्यपि आपके आग्रह से मैने घोर प्रतिग्रह–काल पुरुष का दान–ग्रहण किया था, किन्तु उस घोर पाप से भी मुझे गीता के नवम अध्याय के पाठ ने बचा लिया।

राजा ने कहा—ब्रह्मन्। उस नवम अध्याय को मुझे भी पढ़ा दीजिये।

बकरा कह रहा है—हे ब्राह्मणो! राजा की प्रार्थना पर ब्राह्मण ने राजा को विधिवत अर्थ सहित नवम अध्याय को पढ़ाया। श्रद्धा भक्ति के साथ नवम अध्याय के पठन पाठन से

दोनों को ही परम शान्ति की प्राप्ति हुई और वे मोक्ष के अधिकारी बन गये। इसलिये इन हिंसामय कर्मों को छोड़ो। गीताजी के अध्ययन मनन पाठ तथा जप मे चित्त लगाओ।

सूतजी कहते है—मुनियो! बकरे की बात सुनकर ब्राह्मण उस पशुबलि से विरत हो गये तथा निरन्तर नवम अध्याय के पाठ, अध्ययन मनन से मुक्ति के अधिकारी बन गये।

यह मैने श्रीमद्भगवत् गीता के नवम अध्याय का महात्म्य सुनाया अब आगे दशम अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा।

छप्पय

तजि हिंसामय करम करो गीता पारायन।
चन्द्र नृपति कुरुक्षेत्र करैं परजा को पालन॥
काल पुरुष को दान महन में दीयो द्विजकूँ।
अघ हिंसा द्विज देह चले तबई प्रविसन कूँ॥
पाठक नवमाध्याय द्विज, परसि सकै नहिं ताहि तैं।
नृप हू ने तिनि तैं पढ्यो, भये मुक्त स्वाध्याय तैं॥

अनन्य चिन्तक का योगक्षेम प्रभु स्वयं चलाते हैं

[११]

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(श्री भ० गी० ९ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

जो अनन्य है करैं पार्थ ! चिन्तन मेरो नित ।
और न आशा करैं लगावैं मोई महँ चित ॥
प्रभु उपासना करैं प्रेम तैं मम पद ध्यावैं ।
मोइ समुझि सरबस्व करैं कीर्तन गुन गावैं ॥
नित्य निरन्तर चिन्तकनि, ध्यान रखूँ तिनको सतत ।
मैं अपने ही हाथ तैं, योग क्षेम उनको करत ॥

---

* किन्तु जो भक्तजन अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य ही मुझमे युक्त पुरुषों का योग क्षेम मैं स्वयं ही वहन करता हूँ ॥२२॥

हे कौन्तेय ! जो भक्त श्रद्धा से युक्त होकर अन्य देवता का भी पूजन करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वह उनकी पूजा अविधिपूर्वक है ॥२३॥

संसार के सभी व्यापार गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार हो रहे हैं। ये तीनों बातें प्रकृति में ही है। सत्व, रज तथा तम ये तीनों गुण प्रकृति से ही है गुणमयी प्रकृति ही होती है। कर्म भी प्रकृति की प्रेरणा से होते है, स्वभाव तो प्रकृति का नाम ही है। स्वभाव कहो, प्रकृति कहो, दैव कहो सब एक हो बात है। दो वस्तु हैं एक अन्य दूसरी निज। हम संसारी लोग निज पर भरोसा नहीं रखते अन्य पर रखते हैं। हम यही आशा रखते है, दूसरों के द्वारा ही हमारे कार्य की सिद्धि होगी। पुरोहित सोचता है यजमान द्वारा मेरा जीवन निर्वाह होता है अतः वह यजमान को प्रसन्न रखने का प्रयन्त करता है। व्यापारी समझता है, मेरा निर्वाह ग्राहकों के अधीन है, अतः वह ग्राहकों का विशेष ध्यान रखता है। पत्नी समझती है, मेरा भरण पोषण पति करता है, अतः वह पति की सेवा सुश्रूषा करती है। सभी अपने निर्वाह के लिये दूसरों पर अवलम्बित रहते हैं। निर्वाह में दो काम होते हैं एक योग और दूसरा क्षेम। योग तो वह कहाता है जो वस्तु हमें प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना। जसे काम चलाने को-यज्ञादि कर्म करने को-हम पर द्रव्य नहीं है, तो विविध प्रयत्न करके धन जुटाने को योग कहते हैं। और क्षेम प्राप्त वस्तु की रक्षा हो उसका नाम है। जंसे हमारे पास जो द्रव्य जुट गया है उसे कोई दूसरा न ले जाय। इसकी चिंता करना, अन्य लोगों द्वारा रक्षा कराना।

जो ससारी लोग हैं, वे योग के लिये और क्षेम के लिये भी परावलम्बी होते हैं दूसरों की सहायता चाहते हैं, गुण कर्म, स्वभावानुसार प्रयत्न करते हैं। उनको यह चिंता बनी रहती है, कि आज का तो हमारा काम चल गया, आज का निर्वाह तो हो गया, कल का काम कैसे चलेगा। बस यह कल की चिंता ही उन्हें

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये प्रेरित करती है। इसी के लिये वे अन्य पुरुषों का चिंतन करते हैं, अन्य पुरुषों से आशा रखते हैं।

किन्तु जो अन्य के उपासक न होकर निज के उपासक हैं, अन्यों पर भरोसा न रख कर अपने पर ही भरोसा रखते हैं, वे कल की चिंता नहीं करते। ऐसे कल की चिंता न करने वालों को को ही अनन्योपासक कहते हैं।

आप कहेंगे, कि यदि कल की चिंता न करें, तो काम कैसे चलेगा, ? जीवन निर्वाह कैसे होगा ? तो हम पूछते हैं—क्या जीवन निर्वाह तुम्हारी चिंता के ही द्वारा होता है, तुम्हारे प्रयत्नों द्वारा ही अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति होती है यदि अपनी चिंता से ही सब वस्तुएँ प्राप्त होती हों, तो संसार में कोई निर्धन दृष्टि गोचर न होता, कोई भी रोगग्रस्त न होता, कोई भी निन्दित न होता। क्योंकि निर्धन होना, रोगी बने रहना, निन्दित होना संसार में कोई नहीं चाहता। बहुत चाहने पर भी सभी धनवान नही हो जाते, सभी सर्वदा निरोगी नही होते, सभी की कीर्ति नहीं फैलती। किन्तु करें क्या हम प्रकृति के अधीन हैं विवश होकर हमें अन्यों का आश्रय लेना पड़ता है। अन्यों का चिंतन करना पड़ता है। यह प्राणी सामाजिक है दूसरों की सहायता से ही समझता है, हमारा योग क्षेम चलेगा। इसलिये विवश होकर अन्यों की शरण लेनी पड़ती है।

इसके विरुद्ध कुछ ऐसे भक्त हैं, जिन्हें अपने प्रभु पर विश्वास है, उनकी दृढ़ धारणा है, कि हमारे निर्वाह का—हमारे योग क्षेम का—ठेका तो हमारे श्यामसुंदर ने ले रखा है। जब वे ही हमारी सब प्रकार से चिंता करते हैं, तो फिर हमें अन्यों की चिंता न

करके अपने प्रभु की ही अनन्य भाव से चिंतना करनी चाहिये। हम अन्यों द्वारा योग क्षेम की आशा रखें तो यह हमारा व्यभिचार है, अपचार है। हमारी कल की चिंता आगे की चिंता जो अपने हैं वे ही करेंगे। आदमी अशांत कब होता है? जब जिनसे आशा रखता है और वे उसकी आशा को पूर्ति नहीं करते, तब उसके मन मे अशांति होती है। किन्तु जिन पर हमारा दृढ विश्वास है और हमें पूरा भरोसा है वे हमारे सच्चे सुहृद हैं सुहृद उन्हें कहते हैं जो हमसे प्रत्युपकार की तनिक भी आशा न रखकर निरन्तर हमारे उपकार में संलग्न रहते हैं तब आदमी निश्चिन्त हो जाता है। उसे परम शान्ति की प्राप्ति होती है। जब हमारे जीवन का भार अपने सुहृद ने सम्हाल लिया है, वही हमारी छोटी से छोटी बात की चिंता रखता है, तो हमें तो अपनी सभी चितायें उन्हें ही समर्पित करके निश्चिन्त होकर उन्हीं पर निर्भर रहना चाहिये एक मात्र उन्हीं सच्चे सुहृद् का चिंतन करना चाहिये उन्हीं से प्रेम करना चाहिये।

प्रकृति जड है, अतः वह दूसरों के द्वारा करातो है, जड़ वाष्प यन्त्र (इंजन) है उसे जब तक दूसरा चलावेगा नहीं तब तक चलेगा नहीं। किन्तु माता तो चैतन्य है, माँ जहाँ चाहे बच्चे को स्वतः गोद में ले जाती है। बच्चे को स्वयं खिलाती पिलाती भी है और उसका मलमूत्र भी उठाती है। इसी प्रकार अनन्याश्रयी भक्त के जीवन संभारों को स्वयं भगवान् अपने सिर पर ढोकर लाते हैं। इसीलिये अनन्य भक्त कल को चिंता नहीं करते कल के लिये संग्रह नहीं करते, क्योंकि उनके सच्चे सुहृद तो भार वहन करने को सदा सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं।

एक बड़े भगवत् भक्त सद्गृहस्थ संत थे। वे भी भगवान् के अनन्य उपासक थे और वैसी ही उनकी गृहिणी भी थी। प्रारब्ध

वश-विना याचना के-जो कुछ प्राप्त हो जाता उसी से वे अपना निर्वाह चलाते। वे कल की चिंता करके व्याकुल नहीं होते थे। नित्य नियम से गीताजी का पाठ किया करते थे।

जब वे नवम अध्याय के २२ वें इस श्लोक को पढ़ते—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

तब उन्हें एक प्रकार का धक्का लगता। धक्का इसलिये नहीं लगता, कि उन्हें विश्वास न हो कि भगवान् योगक्षेम नहीं चलाते। यह तो उन्हें विश्वास था कि भगवान् अपने भक्तों का निर्वाह करते हैं। किन्तु उन्हें आपत्ति थी 'वहामि' धातु पर। वह धातु का अर्थ है 'सिर पर ढोकर लाना' वहन करना अर्थात् सिर पर ढोना। वे सोचते—व्यासजी ने 'वहामि' धातु देकर भूल की है, यह तो बहुत भारी पड़ गया। भगवान् भक्तों की सामग्री को अपने सिर पर ढोकर क्यों लावेंगे। वे किसी के द्वारा पहुँचा देते होंगे। सबका निर्वाह करते है अतः वहामि के स्थान में करोमि कर देना ठीक है। भाव तो एक ही है।

पहिले पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं। कोई अशुद्ध शब्द भूल से लिख जाता तो उस पर 'हरताल' फेर देते। पाठ करते समय जिन शब्दों पर हरताल फिरी रहती उसे अपठनीय शब्द माना जाता था। अतः पंडितजी ने 'वहाम्यहम्' पर पीली हरताल फेर दी और उसके ऊपर लेखनी से 'करोम्यहम्' पाठ लिख दिया। अब वे पाठ करते समय 'योगक्षेमं करोम्यम्' यही पाठ करते थे।

एक दिन ऐसा संयोग हुआ कि घर में एक अन्न का दाना भी नहीं था। उनकी अयाचक वृत्ति थी। अयाचक वृत्ति को अमृत

वृत्ति कहा गया है। 'अमृतंयदयाचकम्' बिना माँगे जो स्वतः प्राप्त हो जाय, वह अयाचक वृत्ति है।

पंडितानी ने कहा—"महाराज, आज घर में अन्न का एक दाना भी नहीं। भगवान् का भोग किसका लगेगा?"

पंडितजी ने सरल भाव से कहा—"भगवान् की इच्छा आज उपवास करने की होगी, तुम चिंता क्यों करती हो, जब हमने अपनी समस्त चितायें भगवान् को अर्पित कर रखी हैं, तो हमारा चिंता करना व्यर्थ है।"

ऐसा कह कर पंडितजी मध्यान्ह स्नान करने गंगा तट पर चले गये।

इतने में ही एक १०-११ वर्ष का बड़ा ही सुन्दर बालक अपने सिर पर आटा, दाल, चावल, चीनी, सूजी घृत का बड़ा भारी गट्ठर लादे पंडित के घर आया। उसने द्वार पर से ही जोर से पुकारा, "माताजी माताजी यह लीजिये।"

पंडितानी बाहर आईं। देखा एक अत्यन्त ही सुकुमार परम कोमल, महान् रूपवान् सुशील कुमार बड़ा गट्ठर सिर पर लादे खड़ा है। दूर से इतना बोझ लादने के कारण वह हाँप रहा था, मुखमंडल पर पसीने की बूँदें झलक रहीं थीं।

पंडितानी के हृदय में वात्सल्य उमड़ पड़ा। उन्होंने अत्यन्त ममता के स्वर में स्नेह पूर्वक पूछा—"बेटा, तुम कौन हो, इस गठरी में क्या लाये हो, किसने भेजा है?"

बालक ने कहा—"माँ जी! मेरा नाम श्याम है, इसमें भोजन की सामग्री है, पंडितजी ने भेजी है, आज हलुआ पूड़ी कचौरी बनाओ।"

ब्राह्मणी ने प्रभु द्वारा भेजा मानकर बिना याचना के प्राप्त इस अन्न को उससे लेते हुए कहा—बेटा, तुम छोटे हो, गठरी

भारी है, सिर पर लादकर लाये हो, थक गये होगे, पंडितजी तुम्हें कहाँ मिल गये।

बच्चे ने कहा—"नहीं माँ में थका नहीं। मेरा तो गठरी ढोने का काम ही है, मैं तो सदा भार वहन करता ही रहता हूँ। पंडितजी गङ्गा किनारे हैं।"

गठरी लेते समय ब्राह्मणी ने देखा बच्चे के होठ पर हरताल लग रही है। ब्राह्मणी ने कहा—"हाय, बेटा, तुम इतने सुकुमार हो, तुम्हारे ओठों पर यह हरताल किसने पोत दी है ?"

बालक ने कहा—माताजी ! पंडितजी ने मेरे ओठों पर हरताल पोत दी है।

ब्राह्मणी ने दुखित मन मे कहा—"यह भी कोई बात हुई, पंडितजी को क्या सूझी जो इतने भोले भाले सरल सुकुमार बच्चे के ओठों पर हरताल पोत दी ? बैठो, भैया। पानी पीकर जाना।"

बालक बोला—"नहीं, माताजी ! मुझे और भी कई स्थानों में भार वहन करना है, तुम पंडितजी से ही पूछना, क्यो उन्होंने मेरे मुख पर हरताल पोत दी है ?"

इतना कह कर बालक चला गया। नित्य कर्म मे निवृत्त होकर पंडित घर लौटे। देखा कि हलुआ बन गया है, पंडितानी छुन-छुन करके पूड़ियाँ छान रही है।

पंडितजी ने पूछा—"देवि ! यह सब सामग्री कहाँ से आई ?"

पंडितानी ने कहा—"आपने ही तो भेजी है।"

पंडितजी ने कहा—मैं तो गङ्गा स्नान करने गया था, मैंने तो नहीं भेजी ?

पंडितानी ने कहा—"इतनी ही देर में भूल गये। भेजी कैसे नहीं, अभी-अभी वह बच्चा सिर पर गठरी लादकर दे गया था।

इतने सुन्दर सुकुमार बच्चे के सिर पर तुमने इतना भारी भार लाद दिया ? और तुम्हें सूझो क्या कि उस इतने कोमल बच्चे के ओठो पर हरताल पोत दी ?"

पंडितजी ने कहा—"तुम क्या पहेली सी बूझ रही हो, मैंने तो किसी बच्चे के सिर पर गठरी नहीं लादी, न ओठों पर हरताल ही लगाई।"

पंडितानी ने कहा—"लगयी कैसे नहीं। वह लड़का झूठ बोलने वाला नहीं। बड़ा सरल सुशील लडका था, वह स्वयं कह रहा था, पडितजी ने मेरे मुख पर हरताल फेर दी है।"

पडितजी उपासक थे, भक्त थे तुरन्त उन्हें वह श्लोक याद आ गया वे सोचने लगे—सचमुच भगवान् अनन्य चिंतन करने वालों के समस्त योगक्षेम का भार अपने सिर पर वहन करते हैं। गीता के शब्द जो भगवान् श्रीमुख से निसृत हैं, उन पर हरताल फेरकर मानों मैंने भगवान् के मुख पर ही हरताल फेर दी। गीता का अक्षर-अक्षर सत्य है, वह स्वयं साक्षात् पद्मनाभ भगवान् के मुख कमल द्वारा निसृत है, जो उनमें शंका करके उन पर हरताल लगाता है, मानों उसने भगवान् के मुख कमल में ही हरताल लगायी।"

यह सोचकर ब्राह्मण रोने लगे और बोले—देवि ! तुम ही धन्य हो, तुम्हारी ही भक्ति यथार्थ भक्ति है, तुम्हें स्वयं साक्षात् पद्मनाभ भगवान् के दर्शन हो गये, मै अभागा तो उनके दर्शनो से भी वंचित रह गया।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया आपके निष्काम भक्त जब अहर्निश आपके ही चिन्तन में लगे रहते हैं, तो उनका योगक्षेम कैसे चलता है ? इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन जो अन्य किसी धनिक का, सगे सम्बन्धियों का

गुणवान् का अपने निर्वाह के लिये चिन्तन नहीं करते, केवल मेरे ही आश्रित रहते हैं, अनन्य भाव से मेरा ही चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें मैं भी योगक्षेम की चिन्ता से सदा के लिये मुक्त कर देता हूँ। जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं है, उसे मैं अपने सिर पर ढोकर उनके सम्मुख उपस्थित कर देता हूँ और जो वस्तु उनके जीवन के लिये परमावश्यक है, उसकी रक्षा का भार भी मैं अपने सिर पर ले लेता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! आप इतना कष्ट क्यों करते है, अपने सिर पर ढोकर क्यों लाते हैं, किसी सेवक को कहकर उसके द्वारा पहुँचा क्यों नही देते ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन! तुम कैसी बात कर रहे हो, माता क्या बच्चे की नाक पोंछने को नौकर रखती है, वह स्वयं ही बच्चे की नाक पोंछती है, स्वयं उसका मलमूत्र उठाती है। गौ अपने बच्चे के शरीर में लगे हुए मल को जिह्वा से चाट-चाट कर उसे निर्मल बनाती है, स्वयं अपने स्तनों का दूध पिलाती है। इसी का नाम वात्सल्य है। मैं वात्सल्यरस के वशीभूत होकर ऐसा करता हूँ। ऐसा करने से मुझे तनिक भी कष्ट नहीं होता, प्रत्युत महान् सुख होता है क्योंकि वे लोग तो मेरे ध्यान में युक्त रहते हैं निरन्तर आदरपूर्वक मेरे ही ध्यान में निमग्न रहते हैं। जब वे मेरे प्रति इतनी अधिक भक्ति रखते हैं, तो मैं कृतघ्न तो हूँ नहीं। कृतज्ञ हूँ, कारुणिक हूँ, अतः उन पुरुषों के योगक्षेम का निर्वाह मैं स्वयं ही करता हूँ। क्योंकि उन्हें मेरी प्रीति के अतिरिक्त कोई सांसारिक कामना तो है नहीं। वे घर, द्वार, कुटुम्ब परिवार यहाँ तक कि अपनी देह की भी चिन्ता नहीं करते। अतः उनकी समस्त चिन्तायें मैं करता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा प्रभो! कृपा कर यह बतावें, जो

दूसरे देवताओं के भक्त हैं, जो वसु, रुद्र तथा इन्द्र आदित्य आदि अन्य देवताओं का भजन करते हैं, उनकी क्या गति होगी ?"

भगवान् ने कहा—"जो जिस देवता की उपासना करेगा, उसे उसी देवता की प्राप्ति होगी।"

अर्जुन ने कहा—क्यों भगवन् ! समस्त देवताओं के देव तो आप ही है। संसार में आपके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु है हो नहीं। जब आपके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं, तो वे चाहे जिस देवता की उपासना करें वह तो आपकी ही उपासना हुई। फिर अन्य देवों के उपासकों का आवागमन क्यों नहीं छूटता और जो अनन्य भाव से आपकी उपासना करते हैं उनका संसार बंधन क्यों छूट जाता है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! तुम यथार्थ कह रहे हो। वास्तविक बात तो यही है कि मेरे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। किसी भी देवता की उपासना करो, वह मिलती तो मुझे ही है। तुम कहीं भी जल डाल दो, इर-फिर कर वह पहुँच समुद्र में ही जायगा। फिर भी गंगाजी में डालने से वह सीधा समुद्र में ही चला जायगा। पत्थर की चट्टान पर डालने से पहिले वह वाष्प बनकर आकाश में जायगा, सूर्य की किरणों द्वारा वाष्प बनकर बादल बनेगा, फिर बरसेगा, तब कहीं छोटी नदी, नाले, कूप तालाब आदि में होकर तब महानदी में जायगा, फिर समुद्र में पहुँचेगा। इसी प्रकार जो अन्य देवताओं के भक्त भी उन देवताओं का प्रेमपूर्वक यजन करते हैं, यद्यपि वे भी करते तो मेरा ही यजन हैं; किन्तु वह यजन विधिपूर्वक न होकर अविधि पूर्वक है।

अर्जुन ने पूछा—अविधिपूर्वक कैसे है प्रभो ?

भगवान् ने कहा—वे अज्ञानी हैं, उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि जिस देवता का पूजन वे कर रहे हैं, वह मेरा ही स्वरूप है।

जैसे इन्द्र मेरे ही बाहु हैं, सूर्य चन्द्र मेरे ही दोनों नेत्र हैं। यदि इस भावना से वे यजन करें तो वह मेरा सविधि पूजन होगा, सीधा मुझे ही मिलेगा, उनका आवागमन छूट जायगा। किन्तु वे लोग ऐसी भावना तो रखते नहीं। वे लोग अपने-अपने देवताओं को स्वतन्त्र ईश्वर मानते हैं अतः देवोपासक देवताओं को प्राप्त होंगे और भूतोपासक भूतों को प्राप्त होंगे।

अर्जुन ने पूछा—फिर किस भाव से आपकी उपासना करें जिससे आपको ही प्राप्त हो सकें ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मोकूँ तजिकें अन्य देव को ध्यान धरें जो।
श्रद्धा भक्ति समेत तिनहिँ गुनगान करें जो॥
ऐसे भक्त सकाम दूसरे देवनि पूजत।
इष्ट सिद्धि के निमित उनहिँ वे सरवसु समझत॥
मोई कूँ वेऊ भजत, परि पूजन उनको अविधि।
कुन्तीसुत! मम भक्त तू, करि पूजन मेरो सविधि॥

जो जिस देव का यजन करता है, वह उसी देव को प्राप्त होता है

[१२]

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० २४, २५ श्लोक)

छप्पय

अरजुन भैया ! समुझि यज्ञ को भोक्ता मैं हूँ ।
सब यज्ञनि को करता-धरता-भरता मैं हूँ ॥
मोकूँ प्रभु सब कहें सबहिँ मोईं तैं पावें ।
मेरी दीन्हीं वस्तु सबहिँ प्रभुदत्त कहावें ॥
किन्तु न समुझत अज्ञ नर, करम तत्त्व लखि नहिँ करें ।
ताईं तैं पुनि-पुनि गिरें, पुनि जनमें अरु पुनि मरें ॥

---

* क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का एक मात्र भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, किन्तु वे मुझे तत्त्व से जानते नहीं इसी से गिर जाते हैं ॥२४॥

देव-पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितृ पूजक पितरों को । जो भूत पूजक हैं वे भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे पूजक मुझे प्राप्त होते हैं ॥२५॥

वेद का एक वचन है–उसको जो जिस प्रकार आराधना करता है उसके लिये वह वैसा ही हो जाता है (तं यथा यथोपासतेतदेव भवति) एक नव वधू है, नई ही नई घर में आई है। आते ही उसने सबसे परिचय कर लिया। यह पति है, यह देवर है, यह जेठ है, यह ससुर है। उसके भाई भी आ गये हैं। भाई उसे बहिन मानता है, देवर उसे भोजाई मानता है, ससुर उसे बहू मानता है पति उसे पत्नी मानता है। जिसकी जैसी भावना है, जिसने उसमें जैसा भाव बना लिया है, वह उनसे उसी भाव से व्यवहार करती है। उसके प्रत्येक व्यवहार से लोग समझ लेते है, यह भाई के प्रति व्यवहार है, यह देवर के उपयोगी व्यवहार है, यह पति के अनुकूल व्यवहार है। आँखें उसकी वे हो दो हैं, किन्तु दृष्टि से सब समझ लेंगे, यह भाई बहिन ही दृष्टि है, यह भोजाई की दृष्टि है यह पत्नी की दृष्टि है।

यह जगत भावना के ही ऊपर अवस्थित है। शरीर सभी पंचभूतों के ही बने हुए हैं। काम सभी एक से हो हैं, व्यवहार सब एक से ही चल रहे हैं, कामों में कोई छोटा बड़ा नहीं। अक्षरों में कोई प्रिय अप्रिय नही किन्तु उन अक्षरों के भावों में अन्तर है। कोई किसी को बहिन की गाली दे, तो लोग मरने मारने को तैयार हो जाते हैं, किन्तु वही व्यक्ति अपनी ससुराल में जाता है, तो गाँव भर के युवक उसे बहिन की बड़े बूढ़े दूसरी गालियाँ देते हैं, उनका वह बुरा नही मानता। हँसकर रह जाता है। जिन गालियों के लिये वह अन्य स्थानों में मरने मारने को तैयार हो जाता था, उन्ही गालियों को जब ससुराल में सुनता है, तो उनसे सुख होता है, आन्तरिक प्रसन्नता होती है। अतः एक ही काम है, उसे उसी प्रकार सविधि किया जाय, अर्थात् ज्ञान पूर्वक किया जाय तो उसका फल दूसरा होगा और

उसी को अविधि पूर्वक किया जाय अर्थात् अज्ञान पूर्वक किया जाय तो उसका फल दूसरा होगा। आटा, घृत और शक्कर तीन वस्तु है उन्हें युक्ति पूर्वक पकाया जाय तो दूसरी वस्तु बनेगी, अयुक्ति पूवक पकाया जाय तो दूसरी वस्तु बन जायगी। आटे को घृत में मन्द-मन्द अग्नि से पहिले भूना जाय, जब वह भुनते भुनते लाल हो जाय, भुनने की सुगन्धि आ जाय, तब उसमें विधि पूर्वक शक्कर की चासनी छोड़ी जाय और मन्द-मन्द अग्नि से पानी को सुखाया जाय, जब पानी सूख जाय घृत पृथक् सा होने लगे तब उसमें मेवा डालकर रख दिया जाय तो सुन्दर सयाव्-हलुआ-बन जायगा। उसी आटे को पहिले पानी में पका कर उसमे घृत चीनी मिला दी जाय, तो लपसी बन जायगी। इससे भी अधिक अज्ञान पूर्वक बनाई जाय तो उसमे गुठले पड़ जायँगे, आटा कच्चा रह जायगा। लाभ के स्थान में हानि करेगा। वस्तुएँ एक सी है, अग्नि में दोनो ने पकाया है, किन्तु पकाने-पकाने में अन्तर है। विधि के कारण ही फल में-परिणाम मे अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् एक हैं। वे ही सब रूपों में व्याप्त हैं, वे ही अनेक रूपो से सबकी पूजाओं को ग्रहण करते हैं, किन्तु वह पूजा सविधि की जाय तो साक्षात् भगवान् को प्राप्त हो जायँगे और वही पूजा अविधि की जाय, भगवान् को सर्वान्तर्यामी न मानकर सीमित बुद्धि से की जाय, तो उसका परिणाम भी सीमित ही होगा। जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी भावना के अनुसार वैसा ही उसका फल होता है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अविधि पूर्वक उपासना कैसी होती है और उसके फल में भिन्नता कैसे हो जाती है, इसी बात को और स्पष्ट करते हुए अर्जुन की शंका का समाधान करते

हुए भगवान् कहते हैं—अर्जुन ! जितने भी वैदिक तांत्रिक तथा मिश्रित यज्ञयाग हैं उनका एक मात्र भोक्ता मैं ही हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—यज्ञों में तो भगवन् ! विभिन्न देवताओं को विभिन्न नामों से वलि दी जाती है, जिस देवता का नाम लेकर जिसके निमित्त वलि दी जाती है, उसे वही देवता भोजन करता होगा। आप सबके भोक्ता कैसे हैं ?

भगवान् ने कहा—"श्रौत स्मार्त्त तथा अन्यान्य यज्ञों में जिन-जिन देवताओं का नाम लेकर वलि दी जाती है, वे सभी देवता मेरे ही स्वरूप हैं। मैं अधियज्ञ हूँ अर्थात् मैं समस्त यज्ञों का समस्त देवताओं का स्वामी हूँ। देवता मेरे ही अंश हैं। राजा की सेना किसी देश को जीतकर उसका जो वार्षिक कर लावेगी, वह लाने वालों का न होकर राजा का ही होगा। राजा ही उसका स्वामी होगा। किन्तु जो राजसेवक को अविधि पूर्वक उत्कोच में-रिश्वत में-धन दे देगा, तो वह राजा के पास न जाकर उस राजपुरुष का ही हो जायगा। यदि वही धन उसी राजकर्मचारी को विधिपूर्वक राजमुद्राङ्कित प्रमाण पत्र लेकर राजा के निमित्त दिया जाय, तो कर्मचारी को देने पर भी वह समस्त धनराजा को ही प्राप्त होगा। क्रिया सब एक ही हैं केवल विधि का-भाव का-अन्तर होने से परिणाम में अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार मैं सब यज्ञों का भोक्ता हूँ, उनका प्रभु-स्वामी भी हूँ, किन्तु मुझे यथार्थ रूप से न जानकर वे उन देवताओं को ही भोक्ता प्रभु मानकर उनके ही लिये बलि प्रदान करते हैं। वे मेरे यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर अत्यन्त श्रम के सहित यज्ञयागादि करते हैं, अतः वे मुझे सर्वान्तर्यामी-सबके स्वामी-को सर्वस्व समर्पण न करके उन सीमित देवों को ही समर्पण करते हैं, इस कारण वे धूमादि मार्ग से अर्थात् पुनरावृत्ति मार्ग

मे स्वर्गादि देवताओं के लोकों में जाकर सीमित कर्मों का सीमित पुण्य समाप्त हो जाने पर वहाँ से च्युत कर दिये जाते हैं ढकेल दिये जाते हैं। इसके विपरीत जो उन देवताओं को मेरा ही रूप मानकर-मुझ अंगी के उन्हें अंग समझकर-यजन करते हैं-सब कुछ मुझे हो अर्पण करते हैं-वे अर्चिरादि मार्ग से-अर्थात् अपुनरावृत्ति मार्ग से सीधे ब्रह्मलोक को चले जाते हैं। वहाँ ब्रह्माजी उनके अवशिष्ट ज्ञान को-अधूरे ज्ञान को-पूरा कर देते हैं, तो उनका ब्रह्मलोक का भी भोग समाप्त हो जाता है, फिर वे इस मर्त्यलोक में लौटकर नहीं आते। वे संसारी बन्धनों से विमुक्त होकर परमशान्ति को-अर्थात् मोक्ष को-प्राप्त हो जाते हैं। कर्म दोनों का एक सा ही है, किन्तु सविधि पूर्वक और अविधि पूर्वक किया हुआ इतना ही दोनों में भेद है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! तब तो देव पूजकों का यज्ञ याग में किया हुआ इतना परिश्रम व्यर्थ ही हुआ। उन्हें बारा-बार जन्म लेना पड़ता है मरना पड़ता है। संसार में आना जाना पड़ता है।"

भगवान् ने कहा—भाई, वे चाहते ही यह हैं। जैसा वे चाहते हैं, वैसा उन्हें फल मिलता है। कर्मों का फल व्यर्थ तो कभी जाता नहीं। जसी उनकी भावना होती है, जैसी उनकी वासनामय उपासना होती है, वैसा ही उन्हें फल भी मिलता है। जो सात्विक वासना वाले हैं, सात्विक देवों की उपासन करते हैं, वे देवव्रती उपासक उन-उन देवताओं के स्वरूप होकर उन उन देवताओं के लोकों को प्राप्त हो जाते हैं।

जो रजोगुणी साधक हैं, वे सात्विक देवों की पूजा में उतनी रुचि नहीं रखते वे पितरों का पूजन विशेष रूप से करते हैं, वे पितरों के निमित्त व्रत करने वाले गृही साधक श्राद्ध तर्पणादि

कार्यों को अत्यन्त श्रद्धा के साथ करते हैं, पितृ कार्यों में सदा संलग्न रहते हैं, वे अग्निष्वात्तादि पितरों के लोकों को प्राप्त करके पितृ रूप बन जाते हैं, अपने वंश की वृद्धि चाहते रहते हैं।

जो तमोगुणी स्वभाव के होते है, वे भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, वटुक, भैरव डाकिनी, साकिनी मातृकागण आदि की उपासना करते है, तो उनमे श्रद्धा रखने के कारण उनके लोकों को प्राप्त होते है। क्योंकि इन देवता, पितर तथा भूतादि की शक्ति सीमित होती है, अतः इनके लोक भी सीमित पुण्य वाले क्षयिष्णु होते हैं अतः जब तक भोगों की अवधि रहती है तब तक अपने इष्ट देवों के लोकों में रहते हुए वहाँ के भोगों को भोगते हैं। भोग समाप्त होने पर पुनः इस लोक में आ जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जो आप सर्वान्तिर्यामी सर्वभूत-हितेरत की उपासना करते है। उनकी क्या गति होती है?

भगवान् ने कहा—इस बात को तो मैं अनेकों बार बता चुका हूँ, फिर भी बताता हूँ जो मेरे ही निमित्त यजन पूजन करते है समस्त देवताओं में मेरा ही रूप देखते हैं वे अन्त में मुझे ही प्राप्त करते हैं। मैं असीम हूँ अच्युत हूँ, अतः वे मेरे असीम लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ से कभी च्युत नही होना पड़ता। जहाँ से कभी कोई बलात् ढकेला नहीं जाता। कर्म सब के एक से हैं भावना के अनुसार भेद हो जाता है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! ये सात्विक राजस और तामस यज्ञ बहुत विधि विधान से बहुत सी सामग्रियों के द्वारा बड़े विस्तार से किये जाते हैं, फिर भी इन कर्मों के द्वारा जो लोक प्राप्त होते हैं, वे क्षयिष्णु ही होते हैं इतना वैभव, इतना विधान,

इतना विस्तार इन कर्मों के लिये जब किया जाता है तो आपके निर्गुण पूजन के लिये तो इनसे भी बढ़कर वैभव, विधान और विस्तार की आवश्यकता होती होगी। उसके लिये तो विपुल सामग्रियों को जुटाना पड़ता होगा ?"

सूतजी कहते है—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

साधक देवनि पूजि देवतनि ही ढिंग जावें।
पूजें जा-जा देव रूप ताके बनि जावें॥
पितरनि कूँ नित पूजि होहिं पितरनि कूं प्रापत।
भूत प्रेत कूँ पूजि भूत बनिके सिर आवत॥
जो जाको सुमिरन करै, अन्त समय तिहि पात है।
मेरो जो पूजन करै, मेरोई बनि जात है॥

भगवान् भक्ति से अर्पण की हुई छोटी वस्तु भी स्वीकार कर लेते हैं

[१३]

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥*

(श्री भा० गी० ६ अ० २६, २७ श्लो०)

छप्पय

मेरी पूजा सुगम भक्त जो मम ढिँग आवे ।
भक्ति सहित सिर नाइ प्रेमतें कछु चढ़ावे ॥
अरपै यदि वह पत्र प्रेमतें वाकूँ पाऊँ ।
जल, फल, पत्ता, फूल, देइ ताई कूँ खाऊँ ॥
जल फल को भूखो नहीं, मैं हूँ भूखो प्रेम को ।
सगुन रूप धरि खाऊँ हौं, दास नहीं हौं नेम को ॥

---

* पत्र, पुष्प, फल तथा जल जो भी कोई मुझे भक्ति पूर्वक देता है, उस विशुद्ध भक्त के भक्ति से दिये हुए उपहार को मैं खा लेता हूँ ॥२६॥

हे कौन्तेय ! तू जो भी कुछ करे, जो भी कुछ खाये, जो हवन करे, जो दान दे तथा तपस्या करे, इन समस्त कर्मों को मेरे अर्पण कर दे ॥२७॥

एक कहावत है। शालग्राम भगवान् की पूजा में क्या श्रम है "धोकर पी जाना, दिखाकर खा लेना।" समर्पण का यह कैसा सुन्दर सिद्धान्त है। धोकर पीने से तात्पर्य है, बिना चरणामृत लिये मुख मे कुछ भी मत डालो। और गंगा जल को छोड़कर अन्य जल को मत पियो। आप कहोगे-कि जो गंगा जी के किनारे वास करते है, उनके लिये तो गंगा जल पान करना, गगा जल पीने का नियम करना सुगम है, किन्तु जो गंगा जी से बहुत दूर हैं, जहाँ गंगा जल की एक बूंद भी कठिनता से जीवन में प्राप्त होती है, वे गंगा जल पान का नियम कैसे कर सकते है?

बात यह है, पूर्वकृत सुकृतों के कारण जिन्हें गंगाजी के तट पर रहने का सुयोग प्राप्त हो गया है, उनके भाग्य के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, उन्हें तो गगा जल पान का नियम करना ही चाहिये, किन्तु जो गंगाजी से दूर बसे हैं, जिन्हें साक्षात् ब्रह्म द्रव गंगा जल नित्य प्राप्त नहीं हो सकता। उन्हें शालग्राम के स्नान का चरणामृत ही नित्य पान करना चाहिये। क्योंकि गंगा जी "विष्णुपादाब्जसभूता" बताई गई हैं। अर्थात् भगवान् के चरणारविन्दों का धोवन मात्र है। भगवान् वामन का चरण जब त्रिलोकी को नापते हुए ब्रह्मलोक में पहुँचा, तो ब्रह्माजी ने उस चरण पर तुलसी अर्पित को और अपने कमंडलु के जल से उसका प्रक्षालन किया। वही तुलसी मिश्रित और चरण की रेणु मिश्रित जल ही गंगा जल हुआ। बदरीवन में वही भगवत् चरणों की सन्निधि से निसृत अलकनन्दा गङ्गा है। अतः शालग्राम के स्नान का जल और तुलसी मिश्रित जल गंगा जल के ही सदृश है। जहाँ साक्षात् गंगाजल प्राप्त न हो, वहाँ जल में तुलसी डाल कर भगवान् को समर्पित करके ही जल पीना चाहिये।

इसी प्रकार दिखाकर खाने का तात्पर्य यह है कि तुम्हें जो

भी कुछ खाना हो, भगवान् को दिखाकर भोग लगाकर खाओ। भगवान् सत्व प्रधान हैं, अतः सात्विकी ही वस्तु भगवान् का भक्त खायगा। उसी का भोग लगावेगा। तात्पर्य इतना ही है कि अनिवेदित वस्तु कुछ भी मुख में मत डालो।

इस पर आप पूछ सकते हैं, कि जो लोग मांस खाते हैं, वे भगवान् को मांस भोग लगाकर खायँ तो क्या दोष? इसका उत्तर यही है, सत्त्वप्रधान प्रकृति वाले भक्तों की राजस् तामस पदार्थों में रुचि ही न होगी। राजस् तामस प्रकृति के पुरुष राजस् तामस्, रुद्र, भैरव, चण्डी आदि देवों की उपासना करेंगे और उन राजस् तामस् देवों को ये पदार्थ अर्पण किये जाते हैं और वे खाते भी हैं, किन्तु सत्त्वप्रधान विष्णु के भक्त वैष्णव लोग तो पत्र, पुष्प फल तथा सात्विक अन्नों को ही खाते हैं, उसी का भोग लगाकर भगवत् प्रसाद को पाते हैं। कहावत है, जो जैसा अन्न खाता है उसका देवता भी वैसा ही अन्न खाने वाला होता है। अतः सात्विक भक्त मांसादि न स्वयं भक्षण करते हैं न उनका भगवान् को भोग ही लगाते हैं।

अब प्रश्न यह होता है, मानलो कोई तमोगुणी प्रकृति का पुरुष है, मांस भक्षण उसकी सहज प्रकृति है, किन्तु वह भक्त है सत्त्व प्रधान विष्णु का, तो वह भगवान् को मास मदिरा का भोग लगावे कि नहीं?

इसका उत्तर यह है, कि यदि कोई सौभाग्यशाली तमोगुण स्वभाव का भक्त है और संयोग से किसी कारणवश भगवान् विष्णु में भक्ति हो गयी है, तो वह अपनी स्वाभाविकी प्रकृति के कारण, भगवान् को मांस मदिरा का ही भोग लगावेगा, किन्तु भगवान् कृपा करके या तो उसे उन पदार्थों से घृणा करा देंगे या स्वयं मना कर देंगे, कि भाई तुम ऐसी वस्तुएँ मुझे भोग न लगाया

करो। इस विषय के दो दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं, इसी से बात स्पष्ट हो जायगी कि सत्त्वप्रधान विष्णु अपने तामस भक्तों की भी तामस पदार्थों से अरुचि करा देते हैं।

अवधपुरी में परम सीतारामोपासक एक संत थे। उनके समीप एक भक्त आया उसे सुरा पीने का व्यसन था। वह बहुत चाहता था, किसी प्रकार यह व्यसन छूट जाय। किन्तु लगा हुआ व्यसन और विशेषकर चिरकालीन व्यसन बहुत ही कठिनता से से छूटता है, उसका छूटना असंभव सा ही लगता है। बिना भगवत् कृपा के वह छूटता नहीं। उस भक्त ने संत के चरणों में प्रार्थना की—"भगवन् मेरा यह व्यसन कैसे छूटे ?

संत ने कहा—"तुम मेरे सम्मुख हाथ में सरयूजी का जल लेकर प्रतिज्ञा करो कि बिना भगवान् का भोग लगाये मैं सुरापान न करूँगा।"

उसने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या मदिरा का भी भगवान् को भोग लग सकता है ?"

संत ने कहा—"लग क्यों नहीं सकता। जो हम खाते पीते हैं, उसी को भगवान् के अर्पण करते हैं। तुम भगवान् की पूजा करके जमीन को गोबर से लीप कर, भगवान् का भोग लगाकर उसमें तुलसीदल डालकर पीया करो।"

संत की आज्ञा से उन्होंने प्रतिज्ञा करली। अब वे पूजा करके भूमि को लीपकर भगवान् का भोग लगाकर तुलसी डालकर सुरा का पान करते। उन्हें नित्य ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर राज्य-काज से जाना पड़ता था। ऐसा नियम हो जाने से पहिले जो वे मद्यपियों की गोष्ठी में बैठकर यथेष्ट पान करते थे, वह तो छूट ही गयी। राजकीय भोजों में कहाँ शालग्राम ले जायँ, कहाँ चौका लगावें कैसे भोग लगावें। इसलिये वहाँ उन्हें कहना पड़ता, मैं

पीता नहीं हूँ। अब जब पान करने की हुड़क लगे, तब स्नान करो चौका लगाओ भोग लगाओ इतने झंझट कौन करे। एक दिन वे भोग लगा रहे थे उन्होंने सोचा—इस सुरा के कारण मुझे असत्यभाषण करना पड़ता है और ऐसी निकृष्ट वस्तु को भगवान् का भोग लगाता हूँ, मुझे धिक्कार है, अब आज से मै कभी मद्य पान न करूँगा। इस प्रकार भगवत् कृपा से इतने दिन का इतना भारी व्यसन उसका एक क्षण मे छूट गया।

दूसरा उदाहरण है, घंटाकर्ण का। घंटाकर्ण एक रुद्रदेव का उपासक पिशाच था। वह शिवजी का अनन्योपासक तथा विष्णु का द्रोही था। वह 'शिव' नाम के अतिरिक्त दूसरा नाम सुनना भी नहीं चाहता था। वह अपने कानों में बड़े-बड़े घंटे बाँधे रहता था, जिससे उसके कानों में विष्णु का नाम न पड़े। वह नर मांस खाता मनुष्यों का रुधिर पान करता उन्हीं वस्तुओं का भगवान् को भोग लगाता। अपने बन्धु-बान्धवों और परिवार वालों के साथ ताडव-नृत्य करके शिवजी को प्रसन्न करता। उसकी अनन्य भक्ति से भगवान् भोलेनाथ प्रसन्न हुए और प्रकट होकर उससे वर माँगने को कहा। उसने मुक्ति का वर माँगा।

मुक्ति के दाता भगवान् शिवजी ने सोचा—अभी इस पिशाच के हृदय में मेरे और विष्णु के प्रति भेदबुद्धि है। जब तक भेद-बुद्धि है, तब तक यह मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः पहिले इसे विष्णु और शिव में एकात्मता का बोध कराना चाहिये।" यही सोचकर भगवान् भोलेनाथ बोले—"भैया! घण्टाकर्णः तुम धन, वैभव, ऐश्वर्य स्वर्ग और चाहे जो माँग लो। मुक्ति देने में मै सर्वथा असमर्थ हूँ, मुक्तिदाता तो एकमात्र श्रीहरि विष्णु ही हैं। उन्हीं की शरण जाने से मुक्ति मिल सकती है।"

यह सुनकर घण्टाकर्ण रोने लगा, उसने कहा—प्रभो! बड़ी

भूल हुई, मैं तो आपको ही मुक्तिदाता समझता था। विष्णु का तो मैं नाम भी नहीं सुनता था। वे मुक्तिदाता हैं, तो अब मेरी क्या गति होगी ?

शिवजी ने कहा—तुम भगवान् विष्णु की ही शरण में जाओ, तभी मुक्ति मिल सकती है ?

घण्टाकर्ण ने कहा—"मैंने तो उनसे द्रोह किया है ? वे मुझे क्यों अपनायेंगे ? विष्णु मुझे कहाँ पर कैसे मिलेंगे ?"

शिवजी ने कहा—"विष्णु करुणा के सागर हैं, वे भक्तवत्सल हैं, एक बार भी जो इनकी शरण में जाता है, उसे भी वे अपना लेते हैं। आजकल वे द्वारका में अवतरित हुए हैं, तुम द्वारका उनकी शरण में जाओ।"

यह सुनकर घंटाकर्ण अपने भाई बन्धुओं के साथ रोता हुआ उच्च स्वर से भगवान् के हरे कृष्ण गोविन्द नारायण नामों को लेता हुआ द्वारका पहुँचा। उसके साथी सैकड़ों पिशाच कुत्ते मार्ग में मनुष्यों को मारकर उनके मांस को खाते, उनकी आँतों की मालाओं को पहिनते और जीवों की हत्या करते। द्वारका में जाकर पता चला कि श्रीकृष्ण तो पुत्र प्राप्ति की इच्छा से शिव जी की आराधना करने बद्रीनाथ में गये हैं। तब यह भी अपने साथियों के सहित बद्रीनाथ पहुँचा। वहाँ इसके साथियों ने, कुत्तों ने बड़ा उपद्रव मचाया। बहुत से पुरुषों की हत्या की उस शान्त स्थान को अशान्त बना दिया। वहाँ रोता-रोता मुक्तिदाता श्री कृष्ण के नामों का कीर्तन कर रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण समाधि में मग्न थे, जब उसकी वाणी सुनी तो उससे रोने का कारण पूछा। उसने आदि से अंत तक सब कथा सुनाकर कहा—मैं भगवान् विष्णु श्रीकृष्ण की शरण में आया हूँ। हे मनुष्य ! तुम अपना काम करो, मैं तो श्रीकृष्ण भगवान् का ध्यान करूँगा।

यह कहकर उसने आँतों की मालायें उतार दी। अलकनन्दा के तट पर समाधि मग्न हो गया। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् ने ध्यान में उसे चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये। वह समाधि में ऐसा मग्न हुआ कि उसका ध्यान टूटता ही नही था। तब भगवान् ने अन्तःकरण से अपने रूप को अन्तर्हित कर लिया तब उसने आँखें खोलीं। बाहर क्या देखता है साक्षात् श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप से खडे हैं। तब तो वह गद्गद कंठ से भगवान् के नामों का उच्चारण करने लगा। उनके चरणों में मूर्छित होकर गिर गया। तब भगवान् ने उसे सान्त्वना दी।

रोते-रोते उसने कहा—"प्रभो! मेरे अपराधों को क्षमा करो, मै तो कभी आपके नामों को सुनता भी नहीं था। शिवजी ने मुझे बताया। मै तो आपके लिये कोई समुचित उपहार भी नही लाया। हम पिशाचों को मांस बहुत प्रिय है, इसलिये मैं आपके लिये बहुत ही पवित्र वेदज्ञ ब्राह्मणों को मारकर उनका मांस आपकी भेंट के लिये लाया हूँ, इसे आप कृपाकर स्वीकार करें। यह कहकर उसने मारे हुए ब्राह्मणों की चमडी उधेडकर उनके मांस को गंगाजी में धोकर भगवान् के अर्पण किया। उनकी आँतों की मालायें भगवान् को चढ़ाई।"

तब भगवान् ने कहा - "देखो, भैया! माम बहुत बुरी वस्तु है। तिस पर भी नरमांस और उसमें भी वे वेदज्ञ ब्राह्मण का मांस। मैं ऐसी वस्तुओं मे प्रसन्न नहीं होता। आज से तुम मांस खाना छोड दो। जब तक यह इन्द्र है तब तक तुम यहीं निवास करो। फिर तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।" बद्रीनाथ मन्दिर में अभी तक घंटाकर्ण की मूर्ति है, उसकी पूजा होती है। तामस भक्त होने पर भी वह भगवान् विष्णु का कृपा पात्र बना और भगवान् ने कृपा करके उसे तामस आहार से विरत बना दिया। इसलिये

जो भी सात्विक आहार करे, जो भी सात्विक पेय पीवे उसे भगवान् के अर्पण करके ही अपने उपयोग में लावे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने निष्काम कर्मों की भक्ति की दुरूहता के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो भगवान् ने कहा—अर्जुन जैसे सकाम कर्मों के लिये द्रव्य, विधान तथा वैभव की प्रचुरता की आवश्यकता होती है वैसी भक्ति मार्ग में इनकी विशेष आवश्यकता नहीं। वहाँ वाह्य संभारों की महत्ता नहीं, वहाँ तो हृदय की स्वच्छता, प्रेम भक्ति तथा स्नेह पर विशेष बल दिया जाता है। इसीलिये भक्ति मार्ग सुकर है। अभक्त यदि मेरी पूजा बड़े वैभव के साथ करता है, तो भी अहंकार के कारण मैं उसे स्वीकार नहीं करता। और मेरा भक्त यदि श्रद्धा भक्ति के साथ अणुमात्र भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, तो मैं उसे अत्यन्त आह्लाद के सहित स्वीकार कर लेता हूँ। एक तुलसी का दल, एक चुल्लू जल भी मुझे कोई भक्ति पूर्वक देता है, तो मैं उसकी श्रद्धा भक्ति में वंधकर उसका क्रीत दास बन जाता हूँ। मेरी भक्ति भावना की पूजा में यदि पूजा की सामग्री न भी प्राप्त हो, तो जो भी पत्र पुष्प, फल अथवा जल हो प्राप्त हो उसी से मेरी पूजा करके भक्त संसार बन्धन से छूट जाता है। तुलसी तो मेरी प्रिया ही है, तुलसीदल अर्पण करने से तो मैं प्रसन्न हो ही जाता हूँ, किन्तु द्रौपदी ने तो मुझे सागपत्र ही अर्पण किया था। सागपत्र भी अमनिया-अछूता-तत्काल लाया हुआ नहीं था। वह पकाते समय बटलोई में चिपक गया था। जूठा पात्र मलने पर भी वह छूटा नहीं था। ऐसा पकाया हुआ जूठा साग पत्र खाकर ही मैं विश्वात्मा उससे तृप्त हो गया था। मेरे साथ सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का पेट भर गया था। द्रौपदी ने प्रत्यक्ष पत्र भी अर्पण नहीं किया था जिस पात्र में वह जूठा पत्र चिपका

था उस पात्र को ही मेरे सम्मुख निवेदित किया था। पत्र को तो स्वयं मैने अपने नखों से खुरचकर अपने हाथ पर रखकर खाया था। इसलिये खाया था कि मेरी परम भक्ता द्रोपदी के द्वारा दिया गया था। वह दुर्वासा ब्राह्मण के शाप से दुखित थी। मैने पत्र खाकर उसके दुःख को दूर किया। पत्र तो खाने की वस्तु है, मुझे तो मेरा भक्त यदि कोई फूल भी देता है, तो उस फूल को सूँघने के स्थान में मै खा लेता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! फूल खाया तो नहीं जाता, वह तो सूँघा जाता है।"

भगवान् ने कहा—खाया कैसे नहीं जाता गोभी का फूल लोग खाते ही है मधूक (महुए) के फूल को भी खाते हैं। पाटिल (गुलाब) के फूल को भी खाते हैं। किन्तु मुझे तो कोई चम्पा, चमेली, जूही, मालती, माधवी, माधुरी तथा किसी का भी कैसा भी कोई फूल दे दे तो मै उसे सूँघने के स्थान में खा ही जाता हूं, क्योंकि वह मेरे भक्त द्वारा लाया गया है। वास्तव में मै फूल का भूखा नहीं प्रेम का भूखा हूँ। ग्राह ने जब गज को पकड़ लिया, तो सहस्रों वर्ष लड़ते-लड़ते गज निर्बल हो गया। निर्बल अवस्था में आर्त होकर-सूँड़ में एक कमल पुष्प लेकर मुझे स्मरण किया मैं तुरन्त वहाँ पहुँचा उसके दिये हुए फूल को मै खा गया और अन्त में ग्राह को मार कर अपने भक्त गज का ही उद्धार नही किया, अपितु भक्त का द्वेष से भी पैर पकड़ने वाले ग्राह का भी उद्धार किया। इस प्रकार सूँघने वाले पुष्प को तो मैं खा ही लेता हूँ, यदि कोई मुझे फल अर्पण करे, तो उन भक्त के दिये फलो को तो मै तुरन्त ही खा जाता हूं।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! फल तो द्रव्य द्वारा प्राप्त होते हैं,

आपके भक्त पर द्रव्य न हो, तो वह आपके लिये पत्र, पुष्प तथा फल कहाँ से लावे ?"

भगवान् ने कहा—'अर्जुन ! प्राचीन प्रथा ऐसी थी कि वनों पर और नादियों पर किसी राजा का अधिकार नहीं होता था। वनों में से जो चाहे वही पत्र, पुष्प, फल तथा ईंधन तोड़ लावे। कोई उसे रोकता नही था। फल कभी विकते नही थे, दूध, पूत, तथा फल मूलादि का वेचना पाप माना जाता था। अतः पत्र, पुष्प तथा फल सभी को विना धन व्यय किये, सहज में ही सर्वत्र अमूल्य मिल जाते थे। मान लो पत्र, पुष्प, फल न भी मिलें, तो गंगा जल पर-अन्य नदी कूपो के जल पर-तो कोई प्रतिबन्ध है नहीं, मुझे कोई भक्ति पूर्वक केवल जल ही अर्पण कर द तो मैं उस भक्ति पूर्वक समर्पण किये हुए जल को भी खा लेता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! जल तो पिया जाता है, खाये तो अन्य, फलादि जाते है, जल को आप खाते कैसे हैं।

भगवान् ने कहा—यह मैं जानता हूँ जल खाया नही जाता पीया जाता है, खाने की वस्तु तो रोटी दाल, सत्तू, दही चिउरा तथा फल हैं। देखो, सुदामा मेरे लिये विना दही के चिउरा लाया था, किन्तु लाया था, भक्ति पूर्वक मैं उन सूखे चिउरा को ही फांक गया। स्वाद के साथ खा गया। शबरी जंगली फल चाख-चाखकर जूठे हाथों से लायी थी। मैंने जूठे कूठे का तनिक भी विचार नही किया। वे फल तुरन्त के है या सूखे बासी इस ओर भी नहीं देखा। मैंने तो उसके हृदय की श्रद्धा, भक्ति प्रेम, उत्कट अभिलापा तथा हार्दिक स्नेह को ही देखा अतः उन फलों को प्रेम पूर्वक खा गया। विदुरजी की स्त्री ने तो मुझे केले के छिलके ही दिये थे, किन्तु दिये थे प्रेम पूर्वक, मैं छिलकों को भी खा गया। इसी प्रकार किसी पर अन्न फल देने को नहीं है, थोड़ा

सा जल ही है तो जल को पीवें तो पल भर में गट्ट से पी जायें, भक्त को दु:ख होगा, हाय ! मुझ पर देने को कुछ भी नहीं है। अत: मैं उस भक्त की प्रसन्नता के निमित्त शीघ्रता से जल को पी नहीं जाता। किन्तु शनैः शनैः जैसे चटनी को चाट चाटकर खाते है वैसे ही मैं उस भक्त के जल को बड़ी रुचि के साथ विन्दु-विन्दु करके दाँतों से चबा चबाकर खाता हूँ। इसलिये ऐसा करता हूँ कि मेरा विशुद्ध चित्त वाला भक्त प्रसन्न हो जाय। इसलिये जो सकाम होकर बड़े परिश्रम से बहुत सी सामग्रियों से अन्य देवों की उपासना करके भी जन्ममृत्यु के चक्कर से छुटकारा नहीं पाते, उनको चाहिये निष्काम भाव से मेरी भक्ति में तन्मय हो जायें। सबसे श्रेष्ठ समर्पण भक्ति है।

अर्जुन ने पूछा—"सर्पमण भक्ति कैसी होती है, उसकी विधि बताइये।"

भगवान् ने कहा—उसकी विधि फिधि कुछ भी नहीं है। तुम जो भी कुछ कर्म करो करने के अनन्तर उसे मेरे अर्पण कर दो। यह कम श्री कृष्ण के अर्पण है, मेरा इसमें कुछ नहीं है। सच्चे हृदय से मुझे अर्पण किया हुआ शुभाशुभ कर्म मुझे ही प्राप्त हो जाता है, कर्ता को उसका पुण्य पाप नहीं लगता।

अर्जुन ने कहा—कर्म में तो भोजन भी है, भोजन तो प्रत्यक्ष मुख में डाल कर खाया जाता है, उसे आपके अर्पण कैसे करें।

भगवान् ने कहा—भोजन करते समय यह ध्यान करे कि अन्न तो ब्रह्मा है, इसमें जो रस है, वह विष्णु है, खाने वाला महेश्वर है अर्थात् तीनों क्रिया में मेरे ही तीन रूपों द्वारा हो रही हैं, तो उस अन्न को मानों मैं ही खा रहा हूँ। खाकर यह

कहे वेश्वा नर रूप श्री कृष्ण जो उदर में बैठे हैं, यह अन्न उन्हीं को समर्पित है, अतः ऐसे समर्पित अन्न का दोष भोक्ता को न लगकर उसके फल को मैं ही भोगता हूँ। ऐसी ही भावना हवन करते समय रखे।

अर्जुन ने कहा—"हवन को आपके अर्पण कैसे करे ?"

भगवान् ने कहा–हवन करते समय यही भावना रखे, हवि भी ब्रह्म है अर्पण भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म हवन कर्म भी ब्रह्म है तब वह हवन मुझे ही प्राप्त हो जायगा। हवन करके श्रद्धा भक्ति पूर्वक कहे 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु" यह हवन कर्म श्रीकृष्ण के निमित्त है इसमें मेरा कुछ नहीं। इस भावना से किया हुआ हवन निर्गुण निष्काम कर्म है। ऐसी भावना से हवन करने वाले भक्त का पुनरागमन नहीं होता। इसी प्रकार दान भी करे तो यह न सोचे मैं दान कर रहा हूँ। द्रव्य भी भगवान् का है, जिसे दान दिया जा रहा है वह भी भगवत् स्वरूप है भगवान् को ही समर्पण कर रहा हूँ। कन्यादान करना हो, तो कन्या को तो साक्षात् लक्ष्मी समझे, वर को मेरा स्वरूप समझकर यह कहे "लक्ष्मी रूपा इस वस्त्रा-लंकारों से सुसज्जित कन्या को विष्णु स्वरूप वर को समर्पण कर रहा हूँ तो इस प्रकार का दान संसार बन्धन से सदा के लिये छुड़ाने वाला होता है। कोई तपस्वी है। तपस्या कर रहा है। तप का फल स्वर्ग है। जो जितनी ही उग्र तपस्या करेगा, परलोक में उसे उतने ही पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी, किन्तु जो तपस्या को मेरे अर्पण करता है उसे क्षयिष्णु पुण्यलोक प्राप्त न होकर मेरा सनातन शाश्वत लोक प्राप्त होता है, अतः अर्जुन तुम जो भी भोजन, हवन, पूजन, यजन, दान, धर्म, जप, तप, तथा कर्म करो सबको मेरे अर्पण कर दो।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसा करने से क्या होगा ?

सूतजी कहते हैं – मुनियो ! इसका जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

कुन्तीनन्दन ! करै करम जो मोइ अरपि करि ।
जो-जो खावै अन्न प्रथम मेरे सम्मुख धरि ।।
प्रेम सहित करि हवन किन्तु मोकूँ करि अरपन ।
देवै जो-जो दान करै पितरनि को तरपन।।
चाहैं जप तप यज्ञ करि, करै तीर्थ आदिक धरम ।
मो अनन्त कूँ अरपि कें, अन्तरहित होवैं करम ।।

भक्ति पूर्वक भजन करने वाले मेरे आत्मीय ही हैं

[१४]

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

शुभ करमनि सुख मिलै पुन्य योनिनि में जावैं।
अशुभ करम तें दुष्ट योनि नरकनि कूँ पावैं॥
होवै जब संन्यास योग तें जो युक्तात्मा।
नहीं शुभाशुभ करम फलनि भोगे सुमहात्मा॥
अरजुन सब करमनि अरपि, बन्धन तें छुटि जायगो।
करमबन्ध तें मुक्त है, मोई में मिलि जायगो॥

---

*इस प्रकार करने से संन्यास योगयुक्त तू शुभाशुभ कर्म बन्धनो से छूट जायगा और मेरे को प्राप्त हो जायगा ॥२८॥

मैं सब प्राणियो में समभाव से प्राप्त हूँ, मेरा न कोई प्रिय है न अप्रिय। किन्तु जो मेरा भक्ति पूर्वक भजन करते हैं वे मेरे मे हैं और मैं उनमे हूँ ॥२९॥

भगवान् के अनेक रूप हैं। एक तो भगवान् का सर्वान्तिर्यामी भी रूप हैं। वे समान भाव से सभी प्राणियों में प्राप्त हैं। वे न किसी को सुख देते हैं न दुःख। जिसके जैसे कर्म होते हैं उनके कर्मानुसार वैसा ही फल प्रदान करते हैं। दूसरा भगवान् का अवतार रूप है। भगवान् अवतार तब धारण करते हैं जब पृथ्वी पर अधर्म बहुत बढ जाता है दुष्कृति लोग सुकृति सज्जनों को क्लेश देते हैं, । तब भगवान् अधर्म के ह्रास के लिये और धर्म की स्थापना के लिये अवतार धारण करते हैं, उस समय वे साधु पुरुषों का तो परित्राण करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं और दुष्कृत कर्म करने वाले दुष्टों को दण्ड देते हैं, वह उनका धर्म रूप हैं।

तीसरे भगवान् अपने भक्त के ही निमित्त अवतरित होते हैं, जैसे प्रह्लाद के लिये नृसिंह रूप मे, ध्रुव के लिये विष्णु रूप में गज के लिये हरि रूप में इन अवतारों में भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं यह भगवान् का भक्त वत्सल रूप है।

एक भगवान् का कारुणिक रूप है, जब बहुत से भक्त करुणा वश भगवान् को पुकारते हैं, उनके साथ हास परिहास तथा परम माधुर्य मयी क्रीड़ा करना चाहते हैं, तो भगवान् अपनी लीला के विस्तार के हेतु अपने परिकर के जनों पर करुणा करके अवतरित होते हैं। भगवान् के निज जन सम्बन्ध मानकर भगवान् के साथ रसास्वादन करते हैं। कोई तो भगवान् को स्वामी मानकर अपने को सेवक समझ कर सदा उनकी सेवा में संलग्न रहते हैं। कोई उन्हें अपना पुत्र मानकर वात्सल्य भाव से लाड़ लड़ाते हैं, प्यार करते हैं, पुचकारते हैं आवश्यकता पड़ने पर ताड़ना भी करते हैं, वहाँ ऐश्वर्य की गंध भी नहीं।

कोई उन्हें अपना सच्चा सखा समझ कर उनसे कुस्ती लड़ते हैं, उन्हें उठाकर पटक देते है, चड्डी लेते हैं और हृदय से हृदय सटाकर प्रेम प्रदर्शित करते हैं। कोई उन्हें पति मानकर अपने को उनकी प्रेयसी, दासी सेविका, किंकरी मानकर मधुर रस की अभि व्यक्ति करती है। भगवान् में जो जैसी भावना रखते हैं। भगवान् उनकी भावनानुसार वैसे ही बन जाते हैं।

सर्वान्तर्यामी भगवान् सब प्राणियों के प्रति समान व्यवहार करते है। उनके लिये न तो कोई द्वेष का पात्र है न विशेष प्रेम का ही पात्र। जिसका जैसा अन्त.करण होता है उसमें वैसे ही रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। जैसे दर्पण स्वच्छ होगा तो प्रतिबिम्ब स्वच्छ दिखायी देगा, दर्पण मलिन है, तो प्रतिबिम्ब भी मलिन ही दिखायी देगा। जैसे सूर्य दपण में स्पष्ट दिखायी देता है इसलिये कि वह स्वच्छ है, किन्तु दीवाल में से दिखायी न देगा क्योंकि दिवाल मे पारदर्शक शक्ति नही है, वह मलिन है। काच में स्पष्ट दिखायी देते हैं तथा मिट्टी की भीत में नही दीखते इसमें सूर्य में पक्षपात की कल्पना तो नही की जा सकती।

कल्पवृक्ष सबके लिये समान है, जो उसकी छाया में चला जाय, इच्छानुसार वस्तु माँगले। कल्पवृक्ष से जो माँगोगे वही वस्तु वह दे देगा, किन्तु जो उसके नीचे जाकर मागता ही नहीं, उसको वह कुछ भी नहीं देता। इससे उसमें पक्षपात का आरोप तो नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार जो भगवान् की शरण में जाते हैं उन शरणागतों का भगवान् दुःख दूर कर देते हैं, किन्तु जो भगवान् की शरण जाते ही नही उनका भजन नहीं करते, पूजन, अर्चन, बन्दन, सख्य तथा आत्मा निवेदन नहीं करते, भगवान् भी उनके प्रति तटस्थ बने रहते हैं। सर्वान्तर्यामी

तो कर्मानुसार अन्तःकरण की शुद्धि के अनुसार फल देंगे। किन्तु जो भगवान् के ऐकान्तिक भक्त हैं, अनन्योपासक है, सम्बन्ध लगाकर व्यवहार करने वाले है, उनके साथ तो भगवान् का घर का सा खुला व्यवहार है। मैं तुम्हारा हूँ मेरा घर तुम्हारा है, हममें तुममें कोई भेद भाव नहो। भगवान् की उनके साथ परम ऐकान्तिक आत्मोयता है। जैसे राजा जब सिंहासन पर बैठता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है, राजसभा में अपाराधो के रूप में उसका पुत्र भी आता है, तो उसे भी अन्य अपराधियों को भाँति दण्ड देता है। किन्तु जहाँ वह राजसभा छोड़कर घर के भीतर आ गया, तो फिर घर में तो वह घर का एक सदस्य बन जाता है। पत्नी के साथ एन्कात में विशेष प्रकार की आत्मीयता दिखावेगा। पुत्र के मुख को दूसरे भाव से चूमेगा। भाई से अन्य प्रकार से प्यार करेगा। परिवार के सभी सम्बन्धियों के प्रति प्रजाजनों की भाँति नहीं एक विशेष प्रकार की आत्मीयता प्रदर्शित करेगा।

भगवान् ने तीर्थराज प्रयाग को समस्त तीर्थों राजा बना दिया, अयोध्या, मथुरा, मायापुरी काशी, कांची, द्वारका तथा उज्जैनी इन सप्त पुरियों को उनकी रानी बनाया। सदा समीप रहने के कारण काशी को पटरानी का पद दिया। जितने भी सवा तीन करोड़ तीर्थ हैं, वे सब तीर्थराज के अधीन में रहते हैं, पुष्कर उनके राजपुरोहित हैं। अक्षयवट उनका राजछत्र है, गंगा यमुना काले और सफेद चँवर हैं, समस्त तीर्थ आ आकर उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं।

एक बार तीर्थराज ने अपने अधीनस्थ सभी तीर्थों को बुलाया। समस्त तीर्थ अपने राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके उपस्थित हो गये। केवल वृन्दावन नहीं आये।

तब तो तीर्थराज भगवान् नन्दनन्दन राधारमण के समीप गये और बोले—प्रभो ! आपने ही मुझे समस्त तीर्थों का राजा बनाया है। मेरी आज्ञा की जो अवहेलना करता है मानों आपकी ही अवहेलना करता है। मेरी आज्ञा से अन्य सब तीर्थ तो आ गये वृन्दावन नहीं आये।

भगवान् ने कहा—"भाई, मैंने तुम्हे समस्त तीर्थों का राजा बनाया है। अपने अन्त.पुर का तो राजा नही बनाया है। मेरे अन्तःपुर की रानी तो राधारानी है। क्या तुम मेरी घर वाली को भी अपने अधीन करना चाहते हो। वृन्दावन तो मेरा निजी अन्तःपुर है।"

इसी प्रकार सर्वान्तर्यामी भगवान् समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के जीवों में कोई भेद भाव नही करते सबके साथ समान व्यवहार करते हैं, किन्तु जो उनके ऐकान्तिक भक्त हैं वे सर्वसाधारणों में नहीं आते। वे तो उनके परिवाहिक सम्बन्धी है, घर के आदमी हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने समर्पण भक्ति का उपदेश दिया, तब अर्जुन ने पूछा—इस प्रकार की समर्पण भक्ति का फल क्या होगा ? तो इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन ! इस प्रकार समर्पण भक्ति द्वारा न तुम्हें शुभ कर्म का फल पुण्य मिलेगा। और न अशुभ कर्म का फल पाप ही लगेगा। तुम शुभ अशुभ फल वाले कर्मों के बन्धन से सदा के लिये विमुक्त बन जाओगे। क्योंकि तुम तो समस्त शुभाशुभ कर्मों को सदा सर्वदा मेरे अर्पण करते ही रहोगे, इससे तुम्हारा चित्त विशुद्ध बन जायगा। न उसमें शुभ कर्मों की वासनायें रहेंगी और न अशुभ कर्मों की। इस समर्पण योग द्वारा तुम शुद्ध चित्त वाले हो जाओगे। फिर मुक्ति के लिये तुम्हें मरण काल की प्रतीक्षा

न करनी पड़ेगी। तुम जीवित रहते हुए ही मुक्ति सुख का अनुभव करोगे। जीवन्मुक्तावस्था में ही मुझे प्राप्त हो जाओगे।" समर्पण भक्ति वाले भक्त संन्यास योगयुक्तात्मा कहलाते हैं। उनका संसार से कोई सम्बन्ध ही नही रह जाता।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! इसमे तो ऐसा ही सिद्ध हुआ कि आप भक्तों के प्रति पक्षपात करते है और अभक्तों के प्रति कृपा नही करते। तब तो आप में रागद्वेष पने का दोष आरोपित हो जायगा। पक्षपात करने का दोष लग जायगा। जो पक्षपात करता है वह कैसा ईश्वर?"

भगवान् ने कहा—मेरी दृष्टि में तो सब समान ही हैं। मैं रागद्वेष तथा पक्षपात से सर्वदा रहित हूँ। मेरा न कोई प्रिय पात्र है न द्वेष पात्र। मैं सबके साथ समान न्याय करता हूँ। फिर भैया! भक्ति की बात कुछ दूसरी ही है?

अर्जुन ने कहा—"जब आप समदर्शी है सबके साथ समान व्यवहार करने वाले हैं, पक्षपात से शून्य है रागद्वेष से रहित हैं, तब भक्ति की बात दूसरी है, यह बात क्यों कहते है?"

भगवान् ने कहा—अर्जुन! कर्तव्य बात दूसरी है, अपनापन दूसरी बात है। एक न्यायाधीश है। न्याय के आसन पर जब बैठा है उस समय अपराधी बनकर पुत्र आवेगा तो उसे दंड देगा। पद से पृथक् होकर वह अपने पुत्र को छुड़ाने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि अब आत्मीयता के सम्बन्ध की बात है। इसी प्रकार जो मुझे भक्तिभाव पूर्वक भजते है व तो मेरे अपने ही हैं और मैं उनमें हूँ। उनका सगा सम्बन्धी आत्मीय निज जन हूँ।

अर्जुन ने पूछा—आपके जो कुलीन शुद्ध सदाचारी उच्च वंशोद्भूत भक्त होते होगे उन्ही के प्रति ऐसा पक्षपात करते होंगे? दुराचारियों के साथ तो ऐसा कभी न करते होंगे?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा ।

छप्पय

सब भूतनि सम भाव रूप तैं निवसूँ अरजुन ।
चाहैं होवै सुजन भले ही होवै दुरजन ॥
अप्रिय मेरो नहीं जगत में कोई भाई ।
सम्बन्धी प्रिय नहीं न ममता मन में आई ॥
किन्तु प्रेम तैं जो भजत, मोकूँ तिनिको वनत हूँ ।
मोई में वे नित रहत, हौं उनहीं में वसत हूँ ॥

अनन्य भाव से भजने वाले के पूर्व कृत दोष नहीं देखे जाते

[१५]

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ०, ३०, ३१ श्लो०)

छप्पय

चाहें होवै बड़ो दुराचारी हू पापी ।
अतिशय अघरम करत जगत जीवनि संतापी ॥
यदि सोऊ तजि पाप भजे मोकूँ अनन्य है ।
त्यागे अघरम सकल जगत में रहे धन्य है ॥
साधु परम ताही गनो, सम्यक बुद्धि बनाइकें ।
ताको निश्चय रहूँ अब, गोविंद के गुन गाइकें ॥

---

* चाहे कोई अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि वह भले प्रकार निश्चित मतवाला है ॥३०॥

ऐसा पुरुष अति शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती

वर्णाश्रम धर्म में कुलात, वर्णगत तथा आश्रमगत सदाचार को अत्यन्त ही महत्त्व दिया जाता है। यदि कोई शूद्र होकर कर्म ब्राह्मण के करता है, तो वह पतित हो जाता है, क्योंकि वहाँ तो अपने-अपने धर्म में निरत पुरुष ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। यदि अपना कुलागत कार्य सदोष भी हो तो उसका परित्याग न करना चाहिये। वहाँ स्वधर्म पालन पर अत्यधिक बल दिया गया है, किन्तु भक्ति मार्ग में कुलागत जाति तथा वर्णगत सदाचार का उतना महत्त्व नहीं, यहाँ तो अनन्यता पर बल दिया गया है। अनन्य भाव से कोई भी भक्ति पूर्वक भजन करेगा, तो उसे ससद्धि प्राप्त हो जायगी। भक्ति मार्ग का तो सिद्धान्त है "जाति पाँति पूछे न कोय, हरि को भजे सो हरि को होय।" भक्ति मार्ग में तो लगन देखी जाती है। सभी अवस्थाओं में-सभी स्थानों में जो निरन्तर अनन्य भाव से भगवान् का ही चिन्तन करते हैं, वे पहिले चाहे कितने भी पतित रहे हों, चाहें छोटी से छोटी जाति में उत्पन्न हुए हों अनन्य स्मरण से उनके समस्त दोष मिट जाते हैं, भगवत् भजन के कारण वे साधु बन जाते हैं, ऐसे ही हीन जाति में उत्पन्न अनन्योपासकों को लक्ष्य करके भगवान् ने कहा है—कोई चारों वेदों का ज्ञाता हो, किन्तु मेरा भक्त न हो तो वह मुझे उतना प्रिय नहीं है जितना कि मेरी भक्ति करने वाला श्वपच मुझे प्रिय है। मेरे उस अनन्य भक्त श्वपच को देना चाहिये, वही ग्राह्य है और वह उसी प्रकार पूज्य है जैसे मै पूज्य हूँ।

बात यह है, कि किसी ने प्रकृतिवश पहिले पाप किये हो, पीछे उसे अपने पपा का पश्चात्ताप हुआ, वह सब कुछ छोडकर निरन्तर भगवान् के नाम संकीर्तन में निमग्न हो गया, अनन्य

शान्ति को प्राप्त होता है। हे कौन्तेय! तू प्रतिज्ञा पूर्वक जान कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता ॥३१॥

भाव से भगवान् का भजन करने लग गया, तो उस निरन्तर के नाम कीर्तन के प्रभाव से उसके समस्त पाप नष्ट हो जायँगे, चाहे इसके पूर्व उससे ब्रह्महत्या, पितृहत्या, गोहत्या, मातृहत्या, आचार्य हत्या जैसे अत्यन्त दुष्कर्म हो क्यों न बन पड़े हों, किन्तु जहाँ उसे अपने पापों के प्रति पश्चाताप हुआ और वह सब कुछ छोड़कर निरन्तर प्रभु के स्मरण में लग गया। सतत कीर्तन में निमग्न हो गया, तो चाहे वह चाण्डाल ही क्यों न रहा हो, चाहे वह अधम जाति पुल्कश जाति में हो क्यो न उत्पन्न हुआ हो। भगवान् के सतत कीर्तन में ऐसा प्रभाव है, कि वह पवित्र बन जाता है, समस्त पापों से छूट जाता है, किन्तु वह भजन होना चाहिये अनन्य भाव से। छल, कपट, दम्भ तथा लोभ लालच से रहित होकर सच्चे हृदय से विशुद्ध अन्तःकरण से होना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—आपके जो आत्मीय निजी भक्त हैं वे सब सदाचारी, कुलीन और उच्चवंश वाले ही होते होंगे?" इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन मेरा भक्त कुलीन हो, उच्चकुलोत्पन्न हो, सदाचारी हो और साथ ही मुझमें अनन्य प्रेम रखता हो, तब तो कहना ही क्या है। किन्तु मैं कुलीनता सदाचार को ही मुख्य मानकर अधम जाति के तथा दुराचारी भक्तों से घृणा करता होऊँ, सो बात नहीं है। यदि पहिले कोई बड़ा भारी नामी दुराचारी भी रह चुका है, किन्तु अन्त में वह दुराचार को त्यागकर मेरा अनन्य भाव से भजन करने लग गया है, तो अब उसे दुराचारी मत समझो।

अर्जुन ने पूछा—तब उसे क्या माने ?

भगवान् ने कहा—अब उसे साधु ही समझना चाहिये और साधु के ही समान उसका सम्मान भी करना चाहिये ?

अर्जुन ने पूछा—"जिसने पूर्वकाल में बड़े-बड़े पाप किये हैं, उसे साधु कैसे माना जा सकता है?"

भगवान् ने कहा—भूत की बातें तो भूत के गर्भ में विलीन हो गयीं। अब देखना यह है, कि अब जो उसने निश्चय कर लिया है, वह निश्चय कैसा है। देखो, अजामिल ने दुराचार करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी थी। संसार में जितने भी बड़े से बड़े पाप कहे जाते हैं, वे सभी उसने किये थे। किन्तु भाग्यवश उसे साधु संग मिल गया, उसने अपने पूर्वकृत पापों के लिये पश्चाताप किया, और उसने दृढ़निश्चय कर लिया कि अब मैं ऐसे पाप कभी न करूँगा। ऐसा दृढ़निश्चय करके वह भगवती भगीरथी के तट पर हरिद्वार चला गया, वहाँ उसने अनन्य उपासना द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त कर लिया। तो ऐसे आदमी को साधु न समझोगे, तो और क्या समझोगे। अन्त में जो उसने दृढ़ निश्चय कर लिया, वास्तव में उसका वही निश्चय सर्वोत्तम है। अजामिल ने उसी समय निरन्तर भगवत् भजन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। इसी प्रकार जो भी पातकी ऐसा निश्चय कर लेगा, उसकी दुर्गति कभी न होगी।

अर्जुन ने पूछा—उसकी क्या गति होगी?

भगवान् ने कहा—उसकी सुगति होगी। तत्काल ही वह धर्मात्मा बन जायगा। भक्त लोग उसके पावन निश्चय की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगेंगे। उसे शाश्वती शांति प्राप्त हो जायगी। इसलिये अर्जुन! तुम प्रतिज्ञा करो, कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! मुझसे आप प्रतिज्ञा क्यों कराते हैं। भक्त तो वह आपका ही है, अतः प्रतिज्ञा आपको करनी चाहिये।"

हँस कर भगवान् बोले—"अर्जुन ! तुम ठीक कहते हो । प्रतिज्ञा करनी तो मुझे ही चाहिये । किन्तु मैं कुछ ऐसा ढोला ढाला हूँ, कि भक्तों की प्रतिज्ञा के सम्मुख मैं अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता हूँ । देखो, मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि रण में मैं अस्त्र शस्त्र नहीं उठाऊँगा और भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा की थी, मैं श्यामसुंदर से अस्त्र अवश्य उठवाऊँगा । उस समय मैं अपनी प्रतिज्ञा भूल गया । भीष्म की ही प्रतिज्ञा पूरी हुई । तुमने जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा की थी, कि आज सूर्यास्त तक जयद्रथ को न मार सका, तो मै जीवित जल जाऊँगा । सूर्यअस्त हो चुका था, तुम चिता जलाकर अपने शरीर को भस्म करने को उद्यत थे । तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को मैने पुनः सूर्य के दर्शन करा दिये तुमने जयद्रथ को मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की ।

तुमने द्वारका में ब्राह्मण से प्रतिज्ञा की थी, मैं तुम्हारे मृत पुत्र की रक्षा करूँगा । किन्तु तुम मृत पुत्र की रक्षा न कर सके । अपनी प्रतिज्ञा भंग होते देखकर तुम चिता जलाकर उसमें जलना चाहते थे । तब मैं रथ में तुम्हें बिठाकर लोकालोक पर्वत के भी आगे भूमा पुरुष के समीप ले गया और वहाँ से ब्राह्मण के पुत्रों को लाकर तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की । अतः मेरी प्रतिज्ञा में तो कभी गड़बड़ भी हो जाती है किन्तु मेरे भक्तों की प्रतिज्ञा सदा पूरी ही होती है । इसलिये मैं तुमसे आग्रह कर रहा हूँ कि तुम प्रतिज्ञा करो, मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता ।"

अर्जुन ने कहा—आपकी आज्ञा से मै प्रतिज्ञा तो कर लेता हूँ, किन्तु कोई आपका भक्त है वह पूर्व अभ्यासानुसार प्रारब्धवश दुराचरण को तो त्याग नहीं सका है, किन्तु आपकी भक्ति में तल्लीन हो गया है, उसकी क्या गति होगी ? अजामिल तो पहिले स्वकर्मनिष्ठ, शान्त दान्त संयमी सदाचारी ब्राह्मण था ।

आगन्तुक दोष के कारण वह पतित हो गया। प्रायश्चित्त तथा पश्चाताप करके तपस्या के प्रभाव से परम गति को प्राप्त हो गया। किन्तु जो जन्म से ही पाप योनि में प्रकट हुए हैं, जो स्वाभाविक दोष से दूषित पुरुष हैं, उनका उद्धार होगा कि नहीं। ऐसे पापयोनि पुरुषों की क्या गति होगी ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन ने पापयोनियों की गति के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया, उनका भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

निश्चय ऐसो करो ताहि परमात्मा जानो।
भयो शीघ्र अति शुद्ध भाव ऐसो तुम मानो॥
जैसे तम भगि जात उजारो जब ही आवै॥
भक्ति करूँ भगवान, करै निश्चय बनि जावै॥
कुन्तीसुत ! निश्चय समुझि, नाश भक्त को हो नहीं।
अघनाशक मम नाम तैं, पाप रहि सकैं हैं कहीं !

भगवत् शरण में आने वाले सभी परम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं

[१६]

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३२, ३३ श्लोक)

छप्पय

मेरो आश्रय लेइ पाप योनिनि के प्रानी।
होवें चाहे नारि इन्द्रहत्या जिनि मानी॥
अथवा होवें वैश्य अरथहित व्यग्र रहैं नित।
होवें चाहें शूद्र रहैं नित कामनि महँ रत॥
वे हू मेरी शरन में, आवेंगे सुख पाइँगे।
परमगति कूँ प्राप्त करि, जा जग तैं तरि जाइँगे॥

---

* हे पार्थ! मेरी शरण में जो भी आ जाता है, वही परमगति को प्राप्त होता है, फिर वे चाहे, पाप योनिवाले, स्त्री, शूद्र तथा वैश्य भी क्यों न हों ॥३२॥

[illegible] राजर्षिगण हों, [illegible] और सुख रहित इस शरीर को पाकर [illegible] ॥३३॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों की द्विज संज्ञा है। तीनों को ही वेदाध्यन का, दान करने का और यज्ञ करने का अधिकार है। वर्णाश्रम धर्म में परम्परागत वृत्ति पर बहुत बल दिया है। प्राचीन काल में बड़ापन और छोटापन वृत्ति के ही ऊपर अवलम्बित होता था। ऐसी वृत्ति हीन वृत्ति मानी जाती थी, जिसके कारण हिंसा प्रश्रय मिले। जिस कर्म में हिंसा का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संसर्ग हो, वह वृत्ति हीन वृत्ति मानी जाती थी, और उस वृत्ति के अपनाने वाले हीन जाति के समझे जाते थे। अब जैसे महापात्र हैं, यद्यपि वे ब्राह्मणवर्ण के हैं, किन्तु मृतक का दान लेते हैं, सूतकों में भी दान ले लेते हैं, उनकी वृत्ति मृतकों से-शवों द्वारा-होती है अतः ब्राह्मण होते हुए भी वे अस्पर्श समझे जाते थे। ज्योतिषी हैं ब्राह्मण वर्ण के हैं, किन्तु वे नवग्रहों का दान लेते है, भविष्य बताकर जीविका चलाते हैं, पापग्रहों का दान लेने से वे हेय माने गये हैं। इसी प्रकार वैद्य भिषक् प्राय: ब्राह्मण ही होते थे, किन्तु उनकी वृत्ति रोगियों से है, आतुरों से आजीविका है, अतः देवता पितर कार्यों में उन्हें अनधिकारी माना गया है, उनके यहाँ भोजन करना निषेध है, उनके अन्न को फोड़े में से जो मवाद निकलता है वैसा-पूयान्न-बताया है।

क्षत्रियों में भी जो अवर्णधर्मी प्रजा पर शासन करते थे, जैसे ब्रह्म देश-कीकट देशों के राजा होते थे, वे क्षत्रियाधम माने जाते थे। उत्तम कुल के राजा ऐसे राजाओं से सम्बन्ध नहीं करते थे।

इसी प्रकार वैश्यों की वृत्ति कृषि, गोरक्षा, व्यापार और ब्याज लेना चार प्रकार की बतायी गयी थी। खेती करने में-हल चलाने में असंख्यों जीवों की हिंसा होती इसीलिये खेती को

"प्रमृत" मरों से भी मरी वृत्ति बताया है। व्यापार में भी रसों का व्यापार (जैसे गुड़, घृत, तैलादिका व्यापार, चर्म का व्यापार, सुराका व्यापार, मांस का व्यापार) पकाये हुए अन्न (दाल, भात, रोटी, पूड़ी, हलुआ) का व्यापार ये निषेध है। अतः इनका व्यापार करने वाली जातियाँ पृथक् बन गयीं। व्याज लेना बहुत ही कठोर कार्य माना जाता था, अतः इसे भी करने वाली जातियाँ बन गयी। गौ का पालन तो पुण्य कार्य है, किन्तु गौ से प्राप्त गव्य (दूध, दही, धृतादि रसों) को बेचना निषेध माना जाता था, अतः गोपालक या ग्वालों की भी वेश्यों से पृथक् जाति बन गयी। तेल भी रस है अतः उसका व्यापार करने वाली तैली जाति पृथक् हो गयी। सुरा का व्यापार भी व्यापार ही है, किन्तु जो वैश्य इसका व्यापार करते थे ध्वजी (कलवार आदि) जाति बन गयीं। इन निषिद्ध व्यापार करने वाले—रस बेचने वालों—को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं रहा। ये द्विजत्व से वंचित हो गये। पूर्वकाल में वर्णाश्रमियों में वेदाध्ययन के अधिकारी वे ही द्विज माने जाते थे जो शास्त्र में निषिद्ध कार्यों से आजीविका न चलाते हों और जिनके यहाँ पुनर्विवाह की प्रथा न हो। पत्नी उसे कहते हैं, जिसके साथ बैठकर यज्ञ किया जाय। वह अपने ही वर्ण की होती थी, शास्त्रीय विधि से कन्यावस्था में जिसका अपने वर्ण के वर से विवाह हुआ हो। उच्च-वर्ण के लोग अपने से दूसरे वर्ण की स्त्रियों को भी रखते थे, किन्तु उनका देवता तथा पितृ कार्यों में न तो अधिकार होता था, न वे पाक कर सकती थी, न उनकी संतानें उस वर्ण की ही मानी जाती थीं। जो द्विज होकर नियोग, धरेजा बैठाना करते थे, वे द्विजों में पतित हो जाते थे। वेद वहिष्कृत समझे जाते थे। शूद्रों में भी जो द्विजातियों की सेवा के अतिरिक्त शास्त्रों

में जिन कार्यों को हीन बताया गया है, उन्हें अपनाने वाले अन्त्यज कहलाते थे, जैसे कुत्ता के मांस को खाने वाले–जीवों को–मछलियों को मारकर उन्हें बेचकर आजीविका चलाने वाले, शवों को ढो कर उनकी वस्तुओं को लेने वाले श्वपच चांडाल आदि कहलाते थे। इनके अतिरिक्त जो वनों में रहते थे, वैदिक कर्म नहीं जानते थे, जिनमें वर्णाश्रम धर्म का प्रचलन नहीं था वे अवर्णाश्रमी कहलाते थे। इनका भी वैदिक यज्ञ यागों में अधिकार नहीं था। एक आध ऐसे यज्ञ थे जिनका अधिकार निषाद स्थापतियों को दिया गया था।

वैसे तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों की ही द्विज संज्ञा है तीनों को ही वेदों का अधिकार होने से पुण्य योनि कहा गया है। किन्तु करद वर्णों को अकरद वर्णों से हीन माना गया है। ब्राह्मण सदा से अकरद रहे हैं। कोई भी धर्मात्मा क्षत्रिय राजा कभी भी ब्राह्मणों से कर नहीं लेता था। रावण आदि कुछ दुष्ट राजाओं ने ब्राह्मणों से कर माँगा सो वह उनके विनाश का ही कारण बना। सामान्यतया ब्राह्मण कर मुक्त होते थे। क्षत्रिय लोग तो कर ग्रहीता ही थे। वे प्रजाओं से (प्रजाओं में ब्राह्मण सम्मिलित नहीं थे) कर लेते थे। अतः वे भी अकरद थे। अब कर देने वाली दो ही जातियाँ रह गयीं। एक वैश्य दूसरे शूद्र। शूद्रों के पास कर देने को धन नहीं था, अतः वे सेवा रूप से कर देते थे। कर दाताओं में सबसे श्रेष्ठ वैश्य ही थे। उन्हीं के पास व्यापार, कृषि, गोरक्षा और व्याज से प्राप्त धन था। इसलिये वे कर दाताओं में श्रेष्ठ कहलाते थे। इसीलिये वैश्यों का नाम श्रेष्ठ, सेठ, श्रेष्ठी, सेठी, चेट्टी, सेट्टी आदि प्रसिद्ध हुआ।

इसीलिये जहाँ-जहाँ द्विज का प्रयोग आता है वहाँ प्रायः

(ब्रह्म क्षत्रञ्च रक्षताम्) ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों का ही विशेषता से आता है। जैसे ब्रह्म क्षत्र साथ-साथ आता है। उसी प्रकार कर देने वाले वैश्य शूद्र का भी प्रयोग साथ-साथ होता है। जहाँ शूद्र वैश्य का प्रयोग साथ-साथ हो वहाँ कर देने वाले, यही अर्थ समझना चाहिये। जहाँ ब्रह्म क्षत्र का प्रयोग हो, वहाँ अकरद समझना चाहिये। अकरदों से करद पहिले छोटे माने जाते थे। तभी तो जब ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन द्रोपदी को स्वयवर से ले गया तब राजा द्रुपद ने अपने पुत्र से शंका करते हुए कहा था—पता नहो यह द्रौपदो को ले जाने वाला अज्ञात कुल का व्यक्ति कौन था। कहो किसी शूद्र ने अथवा नीच जाति के पुरुष द्वारा उच्च जाति की स्त्री से उत्पन्न (वर्ण संकर) मनुष्य ने या कर देने वाले करद वैश्य ने तो मेरी पुत्रो का प्राप्त नहो कर लिया ? और इस प्रकार उन्होंने मेरे सिर पर अपना कोचड़ से सना पाँव तो नहीं रख दिया ? माला के समान सुकुमारी और हृदय पर धारण करने योग्य मेरी लाडलो पुत्री श्मसान के समान अपवित्र किसी पुरुष के हाथों में तो नहीं पड़ गयी ? क्या द्रौपदी को पाने वाला मनुष्य अपने वर्ण (क्षत्रिय वर्ण) का ही कोई श्रेष्ठ पुरुष है ? बेटा ! मेरी कृष्णा का स्पर्श कर किसी निम्न वर्ण वाले मनुष्य ने आज मेरे मस्तक पर अपना वायाँ पैर तो नहीं रख दिया ?" इस वर्णन से यह सिद्ध होता है, कि क्षत्रिय अपनी कन्याओं का विवाह अपने से उच्च वर्ण वाले ब्राह्मणों से तो कर देते थे, किन्तु अपने से नीच वर्ण के वैश्य, शूद्र अथवा संकर जाति (सूतादि) से नहो करते थे, क्योंकि ये करद थे। अतः जहाँ भी कहीं वैश्य का उल्लेख शूद्र के साथ आवे वहाँ कर देने वाले यही अर्थ करना चाहिये।

स्त्री को भी वेद की अनधिकारिणी बताया है। पत्नी को नहीं। स्त्री में और पत्नी में भेद है। स्त्री शब्द से तो स्त्रीलिङ्ग वाली सभी प्राणियों की स्त्रियों को समझना चाहिये। यह सामान्य शब्द है। पत्नी विशेष शब्द है। पत्नी उसे कहते हैं। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन द्विजातियों के घर में उनकी जाति की पत्नी से उत्पन्न हुई हो। और अपनी जाति वाले वर से शास्त्रीय नियमों के साथ जिसका विवाह हुआ हो उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। जिस पुरुष के साथ वह विवाही जाती है उसकी वह अर्धाङ्गिनी हो जाती है, अर्थात् उसके धर्म कर्म पुण्य आदि का आधा फल उसे स्वतः मिल जाता है, वह विवाह में यज्ञों में वेद मन्त्रों का उच्चारण करने की सुनने की अधिकारिणी होती है। वही पुरुष अपनी जाति की या अन्य जाति की और भी स्त्रियों को रख लेता है, तो वे पत्नी नहीं होती। उपपत्नी, भोगपत्नी, रखैली दासी सेविका आदि उसके नाम होते हैं। धर्म पत्नी के लिये न पृथक् कर्म का विधान है और न पृथक् धर्मों का। पति के कर्म ही उसके कर्म हैं और पति का धर्म ही उसका धर्म है और पति की गति ही उसकी गति है। जो धर्म पत्नित्व से हीन है वह सामान्य स्त्री है। सामान्य स्त्रियों को वेद की अधिकारिणी नहीं माना गया है। उनकी सन्तानें भी वेद बाह्य मानी जाती हैं। द्रौपदी जी को जब पांडव जुए में हार गये और वे नियमानुसार कौरवों की दासी बन गयीं, तो उस दशा में वे धर्म पत्नी नहीं रहीं—क्षत्राणी भी नहीं रहीं—उनके पुत्र प्रतिविन्ध्य भी नियमानुसार दासी पुत्र ही माने जाते वे क्षात्रित्व से वंचित हो जाते। तभी तो उन्होंने अपने ससुर धृतराष्ट्र से सर्व प्रथम यही वर माँगा कि मेरा पुत्र दासी पुत्र न कहलावे। पांडवों को छोड़कर वे अब किसी दूसरे की पत्नी

भी नहीं बन सकती थी। जहाँ भी रहती उनकी दासी संज्ञा होती। इसलिये यद्यपि पत्नी होती तो स्त्री ही है, किन्तु उसकी सर्व साधारण स्त्रियों से भिन्नता है। स्त्री के भी दो रूप हैं, एक कामिनी स्वैरिणी वेश्या बहु भर्तृका और दूसरी किसी की नारी उप पत्नी। जिसका सम्बन्ध एक पुरुष से है, किन्तु उसे यज्ञ में अधिकार नहीं है वह उसकी नारी या उप पत्नी है। जिसका सम्बन्ध एक से न होकर बहुतों से है वह कामिनी पुंश्चली बहु-भर्तृका तथा पण्य स्त्री है। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ भी स्त्रियों को निन्दा के वचन आते हैं वहाँ ऐसी ही कामिनियों स्वच्छन्द गामिनियों के सम्बन्ध में हैं, स्त्रियों के कानों में श्रुति के वचन न पड़ने चाहिये ऐसे वचन हैं वहाँ ये वचन सामान्य स्त्रियों के सम्बन्ध में ही हैं, वे वेद की अनधिकारिणी हैं, किन्तु जो द्विजातियों की पत्नियाँ हैं, वे तो यज्ञशाला में बैठकर वेद मन्त्र सुनती हैं, वैदिक कर्मों को करती रहती हैं, वेद मन्त्रों का उच्चारण करती हैं। उनकी तो गति मति समस्त सिद्धियाँ अपने पति के साथ बंधी हैं, वे पति की गति की अधिकारिणी हैं। इसलिये वर्णाश्रमधर्म में वैदिक कर्म काण्डों के अनधिकारी इतने हैं—एक तो सामान्य स्त्री (द्विजपत्नी नहीं) दूसरे कर देने वाले शास्त्र अविहित व्यापार करने वाले वैश्य तथा सेवा परायण करद शूद्र तथा वर्ण संकर और नाम मात्र के संस्कारों से हीन द्विज तथा दुराचारी, पाप-योनि वाले। वर्णाश्रम धर्म में ये मोक्ष के अनधिकारी माने जाते हैं। ये स्वर्ग तक जा सकते हैं, स्वर्ग से आगे नहीं जा सकते। ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों त्रैलोक्य का अतिक्रमण करके महः जन तप तथा सत्यलोक तक जा सकते हैं, मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं।

भक्ति मार्ग में यही विशेषता है, कि उसमें वर्ण, आश्रम,

कुलाचार, पूर्वकृत दुराचार आदि का कोई बन्धन नहीं। अनन्य भाव से भजन करने वाला, चाहे वेदज्ञ ब्राह्मण हो, शूद्र चांडाल स्त्री ही क्यों न हो, सबकी समान गति होगी। सभी परमगति प्राप्त करने के अधिकारी बन सकते हैं। नहीं तो गज, गीध, निपाद, शबरी पिंगला वेश्या, विदुर, सञ्जय, समाधि वैश्य, इन सबको सद्गति कैसे मिलती? भक्ति द्वारा ही ये सबके सब कृतार्थ हो गये। ब्राह्मण ही नहीं असुर, राक्षस वानर तक भक्ति से तर जाते हैं वृत्रासुर, प्रह्लाद, हनुमान, जाम्बवान, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा दासी, व्रज की अहीरिनी ये सब भगवान् में भक्ति करके ही धन्य-धन्य हो गये। अतः भक्ति महाराणी सार्वभौम हैं। वे सबको समान भाव से तारने में समर्थ हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि जो स्वाभाविक दोष से दूषित हैं, जो जन्म से ही हीन जाति हीन, वर्ण में उत्पन्न हुए हैं, उनका उद्धार होगा या नहीं।" इसका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं—"देखो, अर्जुन मेरा जिसने अनन्य भाव से आश्रय ले लिया, वह चाहे पाप योनि में ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, मनुष्य ही, नहीं चाहे पशु पक्षी योनि में ही पैदा हुआ हो, उसका उद्धार हो जायगा। देखो, गरुड़ जी का स्वाभाविक भोजन सर्प है, वे मांस भोजी हैं, फिर भी वे मेरे अनन्य उपासक हैं, गरुड़ जी को जाने दो, जटायु गीध तो मृतकों का मांस खाने वाला था। पक्षियों में सबसे नीच गीध ही माना जाता है; गीध जिस घर पर बैठ ही जाय, उसका पुनः संस्कार कराना पड़ता है। पक्षियों में काक को सबसे अधिक धूर्त बताया गया है, किन्तु भुसुन्डी काक ही थे। अनन्य उपासना के कारण ये परमगति को प्राप्त हुए।

स्त्रियों को भी वेदाध्यन करने का अधिकार नहीं। स्त्री, शूद्र, द्विजबन्धु इनको श्रुति सुनने का अधिकार नहीं। यज्ञ पत्नियाँ स्त्रियाँ होवे पर भी इसका अपवाद हैं। यज्ञ पत्नियों की बात जाने दो। कुब्जा तो किसी की पत्नी नहीं थी दासी थी उसने मुझे अपना चन्दन और तन मन सभी कुछ अर्पित कर दिया था। इसी प्रकार वन में रहने वाली आभीर जाति की गोपिकाओं ने भी मेरी अनन्य भाव से उपासना की थी। शबरी तो अवर्णाश्रमी शबर जाति की थी, मेरा अनन्य भाव से भजन करके तर गयी।

इसी प्रकार शूद्रों को भी वेदाध्ययन का अधिकार नहीं, फिर भी विदुर, संजय आदि मेरी भक्ति के ही कारण तर गये।

जो करद वैश्य हैं, निरन्तर धन अर्जन के ही चक्कर में पड़े रहते हैं। उस जाति के भी बहुत से लोग मेरी अनन्य भक्ति से कृतार्थ हो गये। इनमें समाधि वैश्य, तुलाधार वश्य, धर्म-व्याध ऐसे हैं, जो स्वधर्म का पालन करते हुए भी अनन्य भाव से भक्ति करने के कारण कृतार्थ हो गये। बड़े-बड़े ब्राह्मण इनके यहाँ शिक्षा ग्रहण करने जाते थे। इनके अतिरिक्त जो अन्य अनेक प्रकार के पापयोनि वाले पुरुष थे, वे सब भी मेरा आश्रय लेकर परम गति को प्राप्त हो गये।

अर्जुन ने कहा—क्या प्रभो! भगवद्भक्ति के अधिकारी पाप-योनि वाले, नीच पुरुष स्त्रियाँ, वैश्य, तथा शूद्र आदि ही हैं?

भगवान् ने कहा—नहीं, नहीं भगवत् भक्ति में सभी का समान अधिकार है। मैंने तो यह कहा—कि वर्णाश्रम धर्म जिन्हें स्वर्ग से ऊपर जाने का अधिकार ही नहीं देता, वे आगन्तुक दोष से दूषित तथा स्वाभाविक दोष से दूषित पुरुष भी मेरे भजन से परम गति के अधिकारी बन जाते हैं। यदि मेरी भक्ति

करने वाले सदाचारी, उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले ब्राह्मण हों, ऋषियों के सदृश आचरण करने वाले क्षत्रिय हों, तो उसके सम्बन्ध में, तो कहना ही क्या ? एक तो गङ्गाजल फिर कोरे घड़े में सुवासित करके रखा गया हो, गर्मी के दिनों में वेग की तृषा लगने पर किसी को पीने को मिल जाय, तो उसके लोक परलोक दोनों ही बन जायँगे। वेदज्ञ ब्राह्मण हो, धर्मात्मा क्षत्रिय हो और साथ ही मेरी भक्ति से युक्त हो, तो वह तो सोने मे सुगन्ध के समान है। इसलिये भाग्यवश जिसे यह उत्तम शरीर प्राप्त हुआ उसे लाभ का सौदा करना चाहिये, समय को चूकना नहीं चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! लाभप्रद उत्तम सौदा कौन सा है ?"

भगवान् ने कहा—देखो, चोरासी लाख योनियों में घूमते-घूमते यह मनुष्य शरीर मिला है। इसमें भी यदि सदाचार सम्पन्न उत्तम वंश में जन्म हो गया तब तो कहना ही क्या। ऐसा सुयोग प्राप्त होने पर उत्तम सौदा करने से चूकना नहीं चाहिये। उत्तम सौदा उसे कहते हैं, बहुत ही साधारण मूल्य की वस्तु देकर सर्वोत्तम मूल्य वाली वस्तु को ले लेना। जैसे कांच के टुकड़े के बदले में बहुमूल्यमणि को प्राप्त कर लेना यदि वास्तविक रूप से देखा जाय तो यह मानव शरीर पानी के बुलबुले के समान है, पता नहीं कब नष्ट हो जाय, इसकी नित्यता में किसी को विश्वास नहीं। विश्वास की बात भी नहीं यह अनित्य है ही। अनित्य होने के साथ ही असुखकर भी है। यह शरीर दुःख बहुल है, व्याधियों का घर है, मल का आयतन है। गर्भवास से लेकर मृत्यु पर्यन्त इसमें दुःख ही दुःख है। नाना प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ, भाँति-भाँति की मानसिक

आधियाँ नित्य ही आ आकर इसे जर्जरित बनाती रहती हैं। ऐसे अनित्य और असुखकर शरीर से नित्य और सुखकर मेरी भक्ति द्वारा मुझे प्राप्त कर ले, तो इससे बढ़कर लाभप्रद सौदा दूसरा कौन हो सकता है। जीवन क्षणभंगुर है आगे मनुष्य शरीर मिला या न मिला। ऐसे सुयोग को पाकर भी जो तनिक से द्रव्य के लिये असत्य बोलते रहते हैं, पर निंदा करते रहते हैं, दूसरों को ठगने की चेष्टा करते रहते हैं ऐसे पुरुषों से अभागी दूसरा कौन होगा। अतः परमलाभ प्रद सौदा यही है कि अनित्य और सुख हीन लोक–मनुष्य शरीर–को पाकर निरन्तर मुझे ही भजता रहे। मेरे ही भजन सुमिरन में तल्लीन रहे। यह सबसे श्रेष्ठ शिक्षा है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आपने आरम्भ में कहा था मैं तुम्हें परम पवित्र परमोत्तम प्रत्यक्ष फल देने वाला, जिसका कभी नाश नहीं होता ऐसा राजविद्या राजगुह्ययोग बताऊँगा, सो वह राजगुह्ययोग कौन-सा है।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—अरे, अर्जुन! तू अभी समझा ही नहीं। तबसे मैं तुझे राजगुह्य राजविद्यायोग ही तो बता रहा हूँ। अनन्य भाव से मेरा भजन करना यही राजविद्या राजगुह्ययोग है। इसी को निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, समर्पणयोग, अनन्ययोग, अथवा शरणागत योग कहते हैं। इस मानव शरीर को पाकर इस राजगुह्ययोग द्वारा इसे सुफल बना लो, यदि इस समय चूक गये तो यह कांचन जैसी देह निष्फल हो जायगी। यदि तुम आहार, निद्रा मैथुनादि लोक धर्मों में ही निरत रहे और भजन में चित्त न दिया, तो समझो तुम विजय के सन्निकट पहुँचकर भी बाजी को हार गये।

अर्जुन ने कहा—हाँ, भगवान्! तबसे आप अनन्य भक्ति पर,

भगवत् भजन पर ही प्रत्यन्त वल दे रहे थे, वह भजन कैसे किया जाय, राजविद्या राजगुह्ययोग का सारातिसार बता दीजिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जब तरि जावें वैश्य और शूद्रादिक नारी।
कहनो उनिको कहा पुन्यकारी जो भारी॥
मेरी लेकें शरन विप्र अति पुन्यशील नर।
राज ऋषिनि में भये, भक्तकुल-कमल-दिवाकर॥
अरे, मनुज तनु पाइकें, जग भोगनि कूँ तुरत तजि।
सबहिं दिशनि में सब समय, सदा सर्वदा मोइ भजि॥

राजविद्या राजगुह्ययोग का रहस्य

[१७]

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥❀
(श्री भ० गी० ९ अ०, ३४ श्लो०)

छप्पय

मोईं में मन राखि न इत उत चित्त डुलाओ।
मेरोई बनि भक्त विषय में मन मति लाओ॥
मेरोई करि भजन यज्ञ मेरो स्वरूप है।
मोकूँ करो प्रणाम हमारो जगत रूप है॥
मेरे ई बनि परायन, आत्मा मोमें युक्त करि।
प्राप्त होहि मोकूँ अवसि, नित मेरो ई ध्यान धरि॥

यह जीव अपने को भगवान् से भिन्न मानकर अपने मन को इधर-उधर दौड़ाता रहता है। यह प्राणी भगवान् का भक्त न बनकर धन का भक्त, लोभ का भक्त, वासनाओं का भक्त काम का भक्त, स्त्री का भक्त–संसारी लोगों का भक्त और न जानें

❀ तू मेरे मन वाला हो, मेरा ही भक्त बन, मेरा ही भजन पूजन कर। मुझे ही नमस्कार कर, इस प्रकार तू मत्परायण होकर मुझमें अपने को एकी भाव कर देगा, तो मुझे प्राप्त हो जायगा ॥३४॥

किन-किन अनात्म वस्तुओं का भक्त बना रहता है। भगवान् का पूजन न करके न जाने लोभ के वशीभूत होकर किन-किन क्षुद्र देवताओ का पूजन करता डोलता है। भगवान् को नमस्कार न करके लोभ तथा मोह के वशीभूत होकर किन-किन के पैर पूजता डोलता है। वास्तव में भगवान् पूजा के भूखे नहो। उनकी पूजा के लिये विपुल धन, विपुल सामग्रियों की आवश्यकता नहीं। भगवान् तो भाव के भूखे है। जब पुरुष की सर्वत्र भगवत् भावना सुदृढ़ हो जाती है, उसे सबमें भगवान् दीखने लगते है, तभी उसे परम पद की प्राप्ति हो जाती है। जब तक मन में भेद भाव है, यह बड़ा है यह छोटा है यह राजा है यह रंक है, ऐसे भाव हृदय में अवस्थित हैं, तब तक भगवत् साक्षात्कार होना कठिन है। भगवान् तो सर्वगत हैं। भगवान् वृहती पूजा से उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितने सबमें ब्रह्म का दर्शन करने वाले से प्रसन्न हाते हैं।

चोल देश के राजा वड़े धर्मात्मा थे। भगवान् की बड़े वैभव के साथ महती पूजा किया करते थे। उन्हीं के राज्य में विष्णु दास नाम के एक अकिंचन ब्राह्मण निवास करते थे। वे भगवान् की केवल तुलसी दल से चुल्लू भर जल से पूजा किया करते थे। उन्होंने अपने को सर्वात्मभाव से भगवान् को अर्पण कर रखा था।

एक दिन चोल राज ने भगवान् को वहुमूल्य मणिमुक्ताओं से अलंकृत किया। उसी समय विष्णुदास ने आकर भगवान् के श्रीविग्रह पर मंजरी सहित तुलसी दल अर्पण किये।

चोलराज ने कहा—विष्णुदास! भगवान् को मणिमुक्ताओं से कैसी दिव्य शोभा हो रही है, तुम तुलसी डाल-डालकर उनकी शोभा को क्यों विगाड़ रहे हो?

विष्णुदास ने कहा—"राजन् ! भगवान् तो भाव के भूखे हैं। जिसने सब कुछ भगवान् को अर्पण कर रखा है, भगवान् उसी पर प्रसन्न होते हैं। जिसका सर्वत्र भगवत् भाव नहीं है, उसकी पूजा से भगवान् उतने सन्तुष्ट नहीं होते।"

चोलराज को अपने धन वैभव का अपना महती पूजा का—महान् कर्मकांड का कुछ अभिमान था, उन्होंने कहा—"तुम अकिंचन ब्राह्मण होकर मेरी पूजा से स्पर्धा रखते हो, देखना है पहिले तुम्हें भगवत् साक्षात्कार होता है, कि मुझे।"

इतना कहकर राजा ने भगवान् के दर्शनों के निमित्त बड़े भक्तिभाव से बहुत सा धन व्यय करके विष्णु याग प्रारम्भ किया। महर्षि मुद्गल उस विष्णुयाग के आचार्य बनाये गये, ताम्रपर्णी नदी के किनारे बड़े-बड़े वेदज्ञ ब्राह्मण विधि पूर्वक यज्ञ कराने लगे। राजा बड़ी भक्ति से भगवान् का यज्ञ द्वारा पूजन करते।

इधर विष्णुदास अनन्य भाव से वहीं अनन्त शयन तीर्थ में भगवान् की सन्निधि मे निरन्तर भगवत् भक्ति में लीन रहने लगे। उन्होने प्रतिज्ञा कर ली थी, कि जब तक भगवान् के साक्षात् दर्शन न होंगे, तब तक अनन्त शयन क्षेत्र को न छोड़ूँगा। वे एक बार जो भी कुछ अयाचित वृत्ति से रूखा सूखा प्राप्त होता, उसी का प्रसाद बनाकर भगवान् को निवेदित करके भगवत् प्रसाद को पाते और निरन्तर भगवान के अनन्य चिंतन में निमग्न रहते।

एक दिन प्रसाद बनाकर ज्यों ही भीतर कुछ वस्तु लेने गये त्योंही कोई आकर उनकी बनी बनायी रसोई को उठा ले गया। अब दुबारा कौन झंझट करे। भगवान् को तुलसीदल अर्पण करके भजन में निमग्न हो गये। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ

लगातार सात दिनों तक ऐसा ही हुआ। कौन चोरी कर ले जाता है, उन्हें कुछ पता ही नहीं चलता था। तनिक आँख बन्द हुई कि रसोई का पता नहीं चलता। बिना भगवान् को भोग लगाये वे कुछ खाते नहीं थे। दुबारा बनाने में समय लगता। भजन में विघ्न होता, अतः वे सात दिनों तक बिना खाये निराहार रहकर भजन करते रहे।

सातवें दिन उन्हें बड़ा कौतूहल हुआ, बना बनाई रसोई को उठा कौन ले जाता है। आज वे अत्यन्त ही सावधान रहे, चित्त को तनिक भी इधर-उधर न जाने दिया। रसोई बनाकर छिपकर वे देखते रहे कौन इसे उठा ले जाता है। उसी समय वे क्या देखते हैं, कि एक क्षीणकाय काला कलूटा चांडाल आया और बनी बनाई रोटियों को लेकर भाग चला। विष्णुदास घृत का बर्तन लिये हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े और कहते जाते थे— "प्रभो! रूखी कैसे खाओगे तनिक घृत से चुपड़ने तो दो।" यह कह कर वे चांडाल का पीछा करने लगे। कुछ दूर जाकर चांडाल मूर्छित होकर गिर पड़ा। विष्णुदास अपने वस्त्र से उनकी वायु करने लगे।

कुछ देर के अनन्तर ब्राह्मण क्या देखते हैं चांडाल तो वहाँ नहीं है उसके स्थान में शंख चक्रधारी भगवान् विष्णु वहाँ हंसते हुए वरदमुद्रा में खड़े हैं और विष्णुदास से वर माँगने को कह रहे हैं।"

प्रेम में विह्वल हुए विष्णुदास भगवान् के चरणों में मूर्छित हुए पड़े थे। भगवान् ने उन्हें अपना स्वरूप प्रदान किया और दिव्य विमान में बिठाकर अपने वैकुण्ठलोक को ले गये।

इधर चोलराज का भी यज्ञ पूर्ण होने को आ गया था, उन्होंने दिव्यविमान में विष्णुदास को वैकुंठ जाते हुए देख लिया

था। अतः उन्होंने आचार्य से कहा—महर्षि! यज्ञ समाप्त करो। मैंने सर्वसमर्पण नहीं किया, यह कह कर वे यज्ञकुंड में कूद पड़े। तुरन्त भगवान् प्रकट हो गये। विष्णुदास पुण्यशील और चोलराज सुशील नाम के भगवान् विष्णु के नित्य पार्षद बन गये।

इस कथा से यही सिद्ध हुआ कि भगवान् सर्वसमर्पण चाहते हैं और सबमें भगवत् दृष्टि चाहते हैं। जो भगवान् को सर्वस्वसमर्पण नहीं करता और जिसकी विषम दृष्टि है उसे भगवत् साक्षात्कार नहीं होता। अपने मन को जब तक सर्वात्मभाव से भगवान् मे मिला न दोगे तब तक भगवत् साक्षात्कार कैसे होगा। एक अत्यन्त ही परपुरुष में आसक्ता कामिनी थी। वह काम से अत्यन्त संतप्त होकर शरीर की सुधि-बुधि खोये अँधेरी रात्रि में अपने जारपति से मिलने जा रही थी। मार्ग में एक महात्मा भजन कर रहे थे। उनके ऊपर पैर रखकर वह चली गयी। महात्मा को बड़ा क्रोध आया उसके दो डंडे मार दिये। वह उन्मादावस्था में चली ही गयी। जब वह अपने जारपति में मिलकर उसी मार्ग से फिर लौटी तो महात्मा ने कहा—तू बड़ी दुष्टा है, मेरे शरीर पर पैर रखकर चली गयी थी ?"

उसने विनीत भाव से कहा—"महात्मन्! मुझे पता नहीं मैंने कब आपके शरीर पर पैर रखे ?"

महात्मा ने कहा—"क्यों झूठ बोलती है, मैं भजन में मग्न था, तू पगली सी जा रही थी तेरे पैर मेरे शरीर पर पड़े। मैंने तुझमें दो डंडे भी मारे थे।"

तब उसने कहा—"स्वामीजी! मैं शपथ खाती हूँ, मुझे कुछ भी पता नहीं। मेरा मन तो मेरे जारपति में निमग्न था, किन्तु आप कैसा भजन कर रहे थे, भजन करते हुए भी आपका मन सब घुना-बुनी कर रहा था। आप से तो मेरा ही भजन उत्तम

रहा जो मार खाने पर भी मुझे पता न चला। आप तन्म
होकर भजन किया कीजिये।"

भजन करने वाले का मन जब तक जिसका भजन किय
जाता है, उसके मन में मिले नही, तन्मय न हो, तब तक व
भजन नहीं कहलाता। जिसका भजन करे उसी का भक्त बने
इसका यह अर्थ नही कि दूसरों से द्वेष करे, भाव यह है, वि
सबमें अपने इष्ट के ही दर्शन करे। एक महात्मा थे, उनका शिष्
दूसरे स्थान पर रहता था, वह नित्य अपने गुरु को भोजन ले
जाता था। एक दिन भोजन लेकर वह अपने गुरुजी के यहाँ जा
रहा था। मार्ग में एक कुष्टी मिला। उसने कहा, "मुझे भोजन
करा दो।"

शिष्य ने तुरन्त बड़ी श्रद्धा से उसे सभी भोजन करा दिया।
जब वह सन्तुष्ट होकर चला गया, तो वह गुरुजी के समीप गया।
गुरुजी ने पूछा—"क्यों आज भोजन नही लाये ?"

शिष्य ने कहा—"महाराज, लाता कैसे आप तो वहीं पहुँच
गये थे, अभी तो मैंने आपको भोजन कराया था।"

उसकी ऐसी निष्ठा देखकर समर्थ सद्गुरु बड़े प्रसन्न हुए और
बोले—"वास्तव में मैं ही कुष्ठी के रूप से तुम्हारी परीक्षा करने
गया था, कि तुम्हारी भक्ति मुझमें एकाङ्गी तो नही है। तुम
सबमें मेरे ही रूप का दर्शन करते हो या नही।"

वास्तव में भक्त संसार भर में केवल अपने को ही सेवक,
शेष सभी चर अचर को अपने भगवान् का ही रूप समझता
है। इसलिये तन्मनस्क होने के साथ भक्त भी होना चाहिये।
और भगवान् को ही नमस्कार करनी चाहिये। भगवान् को
ही नमस्कार करने का अर्थ है, कि हाड़ चाम के बने शरीर
को नमस्कार न करे शरीर के भीतर जो आत्मरूप में भगवान् बैठे

हैं, उन्हें ही लक्ष्य करके सभी को श्रद्धा से नमस्कार करे। जब पार्वतीजी ने भगवान् शंकर से कहा—कि "आप मेरे पिताजी दक्षजी को उठकर नमस्कार ही कर लेते तो आपका क्या बिगड़ जाता?" इस पर भगवान् शंकर ने कहा—"देवि! बड़े लोगों के आने पर खड़े होकर नम्रता पूर्वक उनके सम्मुख आ जाना, विनीत बन जाना, प्रणाम करना आदि क्रियायें जो लोक के व्यवहार में परस्पर की जाती है, उनको सज्जन लोग सुन्दर ढंग से करते है अर्थात् वे सभी का आदर सत्कार करते हैं। वह आदर अन्तर्यामी रूप से सबके अन्तःकरणों में स्थित परमपुरुष वासुदेव को प्रणामादि करते हैं, देहाभिमानी पुरुष को वह प्रणामादि नहीं की जाती। विशुद्ध अन्तःकरण का ही नाम वसुदेव है, क्योंकि उसी में भगवान् वासुदेव का अपरोक्ष अनुभव होता है। उस शुद्धचित्त में स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेव को ही मैं नमस्कार किया करता हूँ।"

बात यह है, कि भगवान् वासुदेव तो सभी के अन्तःकरण में बसते हैं, अतः भगवत् बुद्धि से सबको नमस्कार करना चाहिये। उसमें भेदभाव न करे। कुत्ता, चांडाल, गौ, गदहा सभी में भगवान् को समझकर पहिले तो अभ्यास के लिये प्रत्यक्ष सांष्टाग करे। जब अभ्यास हो जाय, सबमें भगवत् भावना होने लगे तब केवल मन से ही इन्हें प्रणाम कर ले। साधु वैष्णवों को ही भगवत् स्वरूप समझकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

जब दो वैष्णव परस्पर में मिलते हैं और एक दूसरे को प्रणाम करते हैं, तो वे शरीर को प्रणाम नहीं करते सर्वान्तर्यामी भगवान् को ही प्रणाम करते हैं।

एक वैष्णव इधर से आ रहा है, दूसरा उधर से आ रहा है, दोनों ने ही परस्पर एक दूसरे को साष्टाङ्ग प्रणाम किया तो

दोनों के बीच में आकर भगवान् खड़े हो जाते हैं, दोनों के प्रणामों को वही नन्द नन्दन भगवान् वासुदेव स्वीकार कर लेते है।

एक वैष्णव थे, उन्होंने दूसरे वैष्णव को अपने मन्दिर का द्वार अपने मन्दिर के सम्मुख नहीं बनाने दिया। सर्वोच्च न्यायालय में अभियोग चला। जो द्वार बनाना चाहते थे, उनकी पराजय हो गयी, जो द्वार बनाने को मना करते थे, उनकी विजय हो गयी।

एक दिन मना करने वाले महात्मा भिक्षा करने जा रहे थे, मार्ग में उन्हें एक वृद्ध वेषधारी वैष्णव मिले। इनका स्वभाव था, जिस वैष्णव को भी देखते उसी को प्रणाम करते थे। उन वृद्ध वैष्णव को भी उन्होंने प्रणाम किया।

वृद्ध वैष्णवों ने क्रोध में भरकर कहा—"बनता है वैष्णव और दूसरे वैष्णवों का अपमान करता है।" इतना कहकर वे वृद्ध शीघ्रता के साथ वहाँ से चले गये।

इन वैष्णव ने सोचा—"मैंने किस वैष्णव का अपमान किया है, भूल में किस वैष्णव का अपराध मुझसे बन गया है।" सोचते-सोचते उन्हें स्मरण हो आया। अमुक श्रेष्ठी वैष्णव का मुझसे अपराध बन गया है। वह भी भगवान् का मन्दिर ही तो बनवा रहे थे, मैंने अभिमान में भरकर उसे रोक दिया। इसका प्रायश्चित यही है, कि उनके घर जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम करूँ, दीन बनकर उनके घर से टुकड़े की भिक्षा मागूँ।" ऐसा निश्चय करके वे उन वैष्णव के घर की ओर चले। किसी वृद्ध वैष्णव ने जाकर उन श्रेष्ठी वैष्णव से कह दिया—"सेठजी! आपके घर अमुक वैष्णव भिक्षा माँगने आ रहे है।"

यह सुनकर श्रेष्ठी वैष्णव का प्रसन्नता का ठिकाना नहीं

रहा। वे दौड़े-दौड़े अपनी पत्नी के समीप गये और बोले—'सुनती है, आज हमारे भाग खुल गये, अमुक महात्मा हमारे यहाँ भिक्षा माँगने आ रहे है, ऐसे माँगने वाले सुयोग पात्र कहाँ मिलेंगे तेरे पास जो कुछ हो, सब उन्हें भिक्षा में दे दे।"

वैष्णव पत्नी ने अपने हीरा, मोती, सुवर्ण चाँदी के आभूषण, सुवर्ण मुद्रायें, सुवर्ण के थालों में सजाकर सेवकों के हाथों में थालों को रख दिया और पति पत्नी हाथ जोड़े द्वार पर आकर खडे हो गये।

उन वैष्णव ने जब दूर से देखा—श्रेष्ठी दम्पति हाथ जोड़े द्वार पर स्वागत के लिये खडे हैं, तो उन्होंने दूर से ही भूमि में लोटकर वैष्णव दम्पति को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। विरक्त वैष्णव को साष्टाङ्ग करते देखकर श्रेष्ठी वैष्णव रोते-रोते दौड़े और कहने लगे—प्रभो! मुझ दीन हीन गृहस्थी पर ऐसा पाप क्यों चढ़ा रहे हैं। मुझ अकिञ्चन को नरक में न ढकेलिये। यह कहते-कहते इन्होंने भी भूमि में लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। इसी समय न जाने कहाँ से वे ही वृद्ध वैष्णव इन दोनों के बीच में आकर खड़े हो गये और दोनों की ओर दोनों भुजा उठाकर बोले—"बस, भाई हो गया हो गया। दोनों का प्रायश्चित हो गया।"

दोनों वैष्णवों ने नमस्कार तो परस्पर में किया, किन्तु उसे स्वीकार सर्वान्तर्यामी भगवान् ने किया। अतः जिसको भी नमस्कार करे भगवत् बुद्धि से करे मानों मैं भगवान् को ही नमस्कार कर रहा हूँ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने राजविद्या राजगुह्य योग का सारासिसार के सम्बन्ध में प्रश्न करके यह पूछा कि भजन कैसे करना चाहिये, तो इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन!

भजन की सर्व श्रेष्ठ प्रक्रिया यही है, कि अपने मन को मेरे मन में मिला दो। और मेरे भक्त बन जाओ।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! माता, पिता, आचार्य, अतिथि सभी में तो मन लगाना पड़ता है, सभी को तो भक्ति करनी पड़ती है, सर्वात्म भाव से आप में ही मन लगावें आपके ही भक्त बनें यह कैसे हो सकता?

भगवान् ने कहा—माता, पिता, आचार्य अतिथि तथा प्राणी मात्र में मेरे ही सम्बन्ध से भक्ति करो, मेरे ही सम्बन्ध से उनसे सम्बन्ध रखो। जैसे पतिव्रता स्त्री है, वह सेवा तो सास, ससुर, जेष्ठ, देवर सभी की करती है, किन्तु पत्नी केवल पति की ही कहाती है, पति के सम्बन्ध से ही अन्य सम्बन्धियों की सेवा करती है। ऐसे ही मन से मुझे ही सबमें देखो, मेरे ही भक्त बनो। सास ससुर की सेवा करने पर भी कहलावेगी तो वह पति की ही अर्धाङ्गिनी। तुम जो भी दान धर्म, हवन पूजन करो, सब मेरे ही निमित्त करो, नमस्कार करना हो तो मेरे ही निमित्त, मुझको ही सबके अन्तःकरण में व्याप्त समझ कर करो।

अर्जुन ने कहा—इससे क्या होगा?

भगवान् ने कहा—होगा क्या? इस प्रकार जब तुम मेरी ही शरण में आ जाओगे, अन्य किसी की शरण न जाकर मेरे में ही अपने चित्त को लगाकर मत्परायण हो जाओगे, तो मुझे ही प्राप्त कर लोगे। इस असार संसार से सदा सर्वदा के लिये पार हो जाओगे।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! आपने अपने को समस्त चराचर में व्याप्त बताया है, और कहीं-कहीं बीच-बीच में अपनी विभूतियों का भी उल्लेख किया है, तो सब रूपों में आपका ध्यान कैसे करें।

भगवान् ने कहा—मैं आरम्भ से बार-बार अपने प्रभाव का अपनी विशिष्ट विभूतियों का वर्णन करता आ रहा हूँ, अब यदि तुम उनका विस्तार से ही वर्णन सुनाना चाहते हो, तो तुम्हारी भक्ति के कारण फिर भी मै उन्हें विस्तार से कहूँगा।"

सूतजी कहते है—मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् के सम्बन्ध में विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा की तो भगवान् ने जैसे अर्जुन को बिना ही प्रश्न के अपने प्रभाव को जताया, उसका वर्णन मै आगे-अगले अध्याय में-करूँगा। आप सब दत्तचित्त से सावधानी के सहित श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

करें नृपति की भक्ति राजसेवक कहलावें।
करें भरन तन करम किन्तु चित्त उतहि लगावें॥
सती सबनि की करै प्रेम तें सेवा सब ई।
परि चित पति में रखै, करै तन अरपन उत ई॥
सबहिँ समुझि प्रभु-दत्त ही, सब ई को आदर करै।
परि मन, वच अरु करम सब, अरपि प्रभुहि भव जल तरै॥

ॐ तत्सत् : इस प्रकार श्री मद्भगवत् गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप मे हैं, उसमे "राजविद्या राजगुह्ययोग" नामका नवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥९॥

अथ

दशमोऽध्यायः

(१०)

भगवान् ही सब की उत्पत्ति के आदि कारण है

[१]

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोले श्रीभगवान–और हू बात बताऊँ ॥
फिरि हू अपनो परम रहसमय वचन सुनाऊँ ॥
अति प्रभावयुत है मेरो उपदेश निरालो ।
महाबाहु ! सुनि लेउ रुचे तो वाकूँ पालो ॥
तू मेरो प्रिय भक्त है, ताही तैं तोतैं कहूँ ।
भक्तवछल मोतैं कहत, हौं भक्तनि के वश रहूँ ॥

---

* श्रीभगवान् ने कहा—हे महाबाहो ! तू मेरे श्रेष्ठ वचन को सुन । मैं फिर से तेरे प्रति कहता हूँ । तू मुझसे अत्यंत प्रेम रखता है, अतः तेरे हित की इच्छा से तेरे प्रति कहता हूँ ॥१॥

अर्जुन की सर्वप्रथम भेंट श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् से द्रौपदी के स्वयंवर में कुम्हार के घर में हुई। वहाँ भगवान् ने धर्मराज युधिष्ठिर के पैर छूते हुए उन्हें अपना परिचय दिया—"मैं वसुदेव का पुत्र वासुदेव हूँ।" यह कहकर भीम को भी प्रणाम किया और अर्जुन को बराबर का समझकर छाती से चिपटा लिया। अर्जुन ने उसी समय अनुभव किया ये ही मेरे सच्चे सुहृद हैं। एक तो सोना और फिर उसमें सुगन्ध। एक तो मेरे मामा के पुत्र सगे सम्बन्धी फिर सच्चे सुहृद्। स्नेह बढ़ता गया, बढ़ता गया बढ़ता ही गया। यहाँ तक एक हो गये विहार, शैया, आसन भोजन वस्त्र में कोई भेदभाव ही नहो रहा।

महाभारत का समय आया, बलरामजी दुर्योधन से आन्तरिक स्नेह करते थे, वे उसकी ओर से लड़ना भी चाहते थे, किन्तु श्रीकृष्ण और पांडवों के अत्यन्त स्नेह को देखकर वे किसी ओर न हुए तटस्थ होकर तीर्थयात्रा को निकल पड़े। बड़ा भाई तटस्थ हो गया, तो श्रीकृष्ण ने भी लड़ना उचित नहीं समझा। भाई लड़ते भी तो भी ये लड़ाई नहीं करते। क्योंकि ये कर्ता नहीं सम्पूर्ण भूतों के साक्षी मात्र हैं। अर्जुन से कहा—"मैं लड़ूँगा नहीं, तुम्हें सम्मति दूँगा।"

अर्जुन ने कहा—"लड़ना मत मेरा रथ तो हाँक दोगे, तुम सारथ्य विद्या में सर्वश्रेष्ठ हो?"

भगवान् तनिक भी हिचके नहीं, कि सारथी का काम हलका है। वर्णसंकर सूतों की वृत्ति है, मित्रता में छुटाई बड़ाई का ध्यान

मेरी उत्पत्ति को न तो देवता ही जानते हैं और न महर्षि ही। क्योंकि देवताओं और महर्षियों का मैं ही तो सब प्रकार से आदि कारण हूँ। (इनकी उत्पत्ति मेरे से ही हुई है) ॥२॥

नहीं रखा जाता। श्रीकृष्ण इस निम्न कार्य को करने सहर्ष तैयार हो गये। युद्धारम्भ हुआ। दोनों सेनायें आमने सामने आ डटी। रथी जैसे सारथी को आज्ञा देता है वैसे ही अर्जुन ने अपने सगे सम्बन्धी सुहृद् सखा सारथी श्रीकृष्ण से कहा—हे अच्युत! दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कर दीजिये।

(१ अ० २१ श्लोक)

आज्ञाकारी सारथी ने अपने श्रेष्ठ रथी की आज्ञा का पालन किया। लड़ने के लिये समस्त सगे सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन को मोह हुआ। युद्ध करने से स्पष्ट शब्दों में उससे मना-कर दिया। अब सारथी ने अपने बूआ के पुत्र पर अपना अधिकार जमाकर उसे युद्ध करने के लिये समझाया लौकिक युक्तियाँ दीं। अर्जुन तो पंडित था उसने शास्त्रीय युक्तियाँ देकर अपने कथन का समर्थन किया, किन्तु श्रीकृष्ण उससे भी बड़े पंडित थे, अतः उन्होंने परम मीठे शब्दों में अपनापन दिखाते हुए कुछ मीठी चुटकी लेते हुए कुछ खिल्लियाँ उड़ाते हुए उसके समस्त तर्कों का शास्त्रीय ढङ्ग से समुचित उत्तर दिया।

अब अर्जुन को अपने मामा के पुत्र का अपने सच्चे सखा की बुद्धि का लोहा मानना पड़ा। अब उसका सख्य समाप्त हुआ। श्रीकृष्ण में आदर बुद्धि हुई। अपनी हठ में ढिलाई आई और उनमें सखा भाव न रहकर गुरुभाव हो गया। उसने कहा—मुझे तो मोह सा हो गया है अब आप मुझे एक निश्चित बात बता दो। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ, आप मेरे गुरु हो, मैं आपका शिष्य हूँ। (२ अ० ७ श्लोक)।

ये गुरु भी सच्चे ही गुरु निकले ये अर्जुन के ही गुरु नहीं थे जगत् गुरु थे। अतः इन्होंने जैसे पहिले अर्जुन का सखा, साला, सारथी तथा संगी बनने से मना नहीं किया वैसा ही गुरु बनने से

भी पीछे नहीं हटे। गुरु के आसन पर आसीन होकर अपने भूले भटके शिष्य को शास्त्रीय ढङ्ग से उपदेश करने लगे। आत्मा की अमरता बताई, शरीरों की अनित्यता समझाई। ज्ञानयोग का रहस्य बताया, कर्म का महत्व समझाया।

कोई निर्णय स्वयं न देकर दोनों पक्ष अर्जुन के सम्मुख प्रस्तुत कर दिये। तीसरे अध्याय के अन्त तक गुरु शिष्य सम्वाद है। पहिले, दूसरे और तीसरे अध्यायों में भगवान् ने भूलकर भी अपनी भगवत्ता का उल्लेख नहीं किया। तीसरे अध्याय के अन्त में जो एक गुरु अपने शिष्य को जैसे आज्ञा देता है वैसे स्पष्ट कह दिया—हे महाबाहो! आत्मा को बुद्धि से परे जानकर, मन का संयम करके सुनिश्चित बुद्धि से इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डालो। (३ अ० ४३ श्लो०)।

अब चौथे अध्याय में कृपा के सागर, करुणा के निधान भगवान् ने स्वयं ही अपने स्वरूप को बताया। जब तक भगवान् स्वयं न बतावेंगे, तब तक अल्पज्ञ जीव समझ ही कैसे सकता है। सर्वप्रथम अपने को भगवान् बताकर अहं शब्द का प्रयोग चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में ही किया है। यह जो ज्ञान और कर्म से विलक्षण तीसरा भक्तियोग है इसका उपदेश मैंने बहुत पहिले सूर्य को किया था। (४ अ० १ श्लो०)।

इतना सुनते ही अर्जुन चौंक पड़ा—"अरे, महाराज! कहाँ की बात कह रहे हो? सूर्य कब हुए और आप कब हुए। कैसी आश्चर्य जनक बातें कह रहे हो?"

भगवान् को तो अपने सच्चे भक्त के सम्मुख अपनी भगवत्ता प्रकट करनी ही थी, अतः बोले—अर्जुन! सच्ची बात बताऊँ। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनाने वाला मैं ही हूँ, सब कुछ करते हुए भी मैं कर्मों में बंधता नहीं। जो मेरे इस स्वरूप को जान लेता

है, वह भी कर्म करता हुआ बँधता नहीं है (४ अ० १३, १४ श्लो०) अर्जुन की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उसने सोचा जिन्हें मैं सुहृद, सखा, सम्बन्धी सारथी तथा गुरु समझता था, वे तो सर्वेश्वर निकले। अब तो मेरे समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जायंगे उसने कहा—"प्रभो! यह मोह कैसे दूर हो?" भगवान् बोले तुम जब समस्त भूतों को अपने में तथा मुझमें भी समान रूप से देखोगे, तब तुम्हें यह मोह होगा ही नहीं (४ अ० ३५ श्लो०) तब भगवान् ने अध्यात्म तत्त्व का बहुत ही सजीव उपदेश देते हुए अन्त में कह दिया। देखो, यज्ञ और समस्त तपों का भोक्ता मैं ही हूँ, समस्त लोकों का महेश्वर भी मैं ही हूँ और सम्पूर्ण चराचर प्राणियों का सच्चा सुहृद भी मैं ही हूँ। जो मेरे ऐसे सच्चे स्वरूप को जान लेता है, उसे ही परम शांति की प्राप्ति होती है। (५ अ० २९ श्लो०) यहाँ भगवान् अधिक खुल पड़े। अब तो भगवान् स्पष्ट रूप से निष्काम कर्म-योग की शिक्षा देने लगे। अब अहं का प्रयोग वे अधिक करने लगे। बोले—देखो, जो मुझ ईश्वर को सर्वत्र देखता है और सबको मुझ ईश्वर में देखता है उसके लिये मैं कभी नाश नहीं होता और मेरे लिये उसका नाश नहीं होता। जो मुझे एकत्वभाव से भजता है, वह योगी मुझमें ही वर्तता है। अतः सबसे बड़ा योगी वही है जिसका चित्त मुझमे ही लगा रहता है। (६ अ० ३०, ३१ ४७)।

सातवें अध्याय में तो भगवान् पूरे खुल गये हैं अहंकी झड़िया लगा दी हैं। अपने आप आरम्भ मे ही, मुझे कैसे जानागे लो तुम्हें बताता हूँ, ऐसा ज्ञान विज्ञान बताऊँगा कि तुम भी याद करोगे, जिसे जानकर फिर कुछ जानने को रह ही न जायगा। कोई विरला ही मुझे तत्त्वतः जानता है जलों में रस, सूर्य चन्द्र में

प्रभा, वेदों में प्रणव आकाश में शब्द पुरुषों में पुरुषत्व, पृथ्वी में गन्ध, अग्नि में तेज, जीवों में जीवन, तपस्वियों में तप, समस्त भूतों में आदि बीज धीमानों में धी, तेजस्वियों में तेज, बलवानों में बल, धर्माविरुद्ध काम हूँ कहाँ तक बताऊँ समस्त त्रिगुणभाव मुझसे ही होते हैं। दुरत्ययमाया मेरी शरण में ही आने से छूट सकती है, मूढ़ मुझे पा नहीं सकते, चतुर्विध सुकृतिगण मुझे ही भजते हैं। ज्ञानी मेरी आत्मा है, सबमें मुझ वासुदेव को देखने वाला महात्मा दुर्लभ है, जो जैसी श्रद्धा करता है, उसी में मैं उसकी श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ। सब कामनाओं को मुझसे ही प्राप्त करते हैं, योगमाया में छिपा रहने से मै सबको दिखायी नहीं देता। मैं सबको जानता हूँ मुझे कोई नहीं जानता, दृढ़व्रती सुकृति ही मेरा भजन करते हैं, मेरा आश्रय लेने वाले मुझे जानते हैं, एकाग्रचित्त वाले मरणकाल में भी मुझे जान लेते हैं। (७ अ० १, २, ३, ८, १०, ११, १२, १४, १५, १६, १८, १९, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २८, २९, ३०)।

इस प्रकार सातवें अध्याय में भगवान् पूर्ण रूप से खुले हैं। अष्टम अध्याय में जब अर्जुन ने ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव अधियज्ञ आदि के प्रश्न किये तब भगवान् ने निर्भय होकर स्पष्ट कहा इस देह में मैं ही अधियज्ञ हूँ, जो अन्तकाल में मेरा स्मरण करके मरेगा वह मुझे ही प्राप्त होगा। इसलिये मेरा सर्वदा स्मरण करते रहो और युद्ध भी करते रहो। मुझे प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता। और सब लौटने वाले हैं मुझे प्राप्त करने वाला नहीं लौटता। मेरे धाम से कोई लौटता नहीं। इस प्रकार भगवान् ने अपना नाम, गाँव, धाम, काम, विश्राम आदि सभी का पूरा परिचय करा दिया।

अब क्या बात है अब तो भगवान् अपने भक्तों के ऊपर ढुर

हो गये। नवम में तो अपना हृदय ही निकाल कर रख दिया। गुह्याति गुह्यतम रहस्य बता दिया। भक्ति का सार समझा दिया। अर्जुन, विचारी प्रकृति क्या बना सकती है। उसका अध्यक्ष पति तो मैं ही हूँ। मूर्ख लोग मुझ मानुष तन धारी महेश्वर का अनादर करते हैं। वे मूर्ख भले ही बकते रहें। महात्मा लोग तो मेरा भजन करते ही हैं। वे मुझे नमस्कार करते हैं, मेरा कीर्तन करते हैं। मैं ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मन्त्र, घृत, अग्नि सामग्री हूँ मैं ही जगत का पिता, पितामह, धाता, वेद, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, निवास, सुहृद, अव्यय बीज सब कुछ हूँ। मैं वर्षा करता हूँ, अमृत, मृत्यु सब मैं ही हूँ। भक्तों का योग क्षेम मैं वहन करता हूँ, किसी का भजन करो मुझे ही प्राप्त होगा। मैं ही सब यज्ञों का स्वामी तथा भोक्ता हूँ। मेरे पूजक मुझे ही प्राप्त करते हैं, मुझे श्रद्धा से जो भो कुछ भक्त देता है उसे खा लेता हूँ, तुम सब कुछ मेरे अर्पण करो। मुझे सर्वस्व अर्पण करके जीवन्मुक्त बन जाओगे। भक्ति से भजन करने वाले मेरे हैं, मैं उनका हूँ। कैसा भी पुरुष मेरा अनन्य भजन करे वह पवित्र ही है इसलिये मेरे मन वाले हो, मेरे भक्त बन जाओ, यज्ञ मेरे लिये करो नमस्कार मुझे ही करो।

(१० अ० १० से ३४ श्लोक).

इस प्रकार जब अर्जुन पर अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् ने अहं-अहं की झड़ी लगा दी। सभी को अपनी विभूति बता दी। अब अर्जुन को सहज ही जिज्ञासा हुई। संसार में तो बहुत सी वस्तुएँ हैं। भगवान् अन्तर्यामी रूप से तो सब में रहते हैं, किन्तु वे विशेष रूप से अपनी किन-किन विशिष्ट विभूतियों में रहते हैं। अर्जुन पूछना ही चाहते थे, किन्तु दया के सागर श्याम सुन्दर ने तो आज अपनी कृपा का द्वार खोल ही दिया है,

वे अर्जुन पर इतने दयालु हो गये हैं, अपने ज्ञान के प्रति उनका इतना अनुराग है, कि उसकी प्रशंसा करते-करते थकते ही नहीं। गुह्यातिगुह्य राजविद्या राजगुह्य योग का उपदेश करके वे रुके नहीं। अर्जुन को प्रश्न करने का अवसर ही नहीं दिया। वे अर्जुन से कहते ही चले गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के मन में भगवान् के प्रभाव को जानने की जब विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो, भगवान् अर्जुन के बिना ही पूछे कहते चले गये। भगवान् बोले— "अर्जुन! तुम्हारी तृप्ति हुई? और भी मेरे वचनों को सुनना चाहते हो क्या?"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! ऐसा कौन अभागा होगा, जो आपके वचनों को न सुनना चाहेगा।"

भगवान् ने कहा—अर्जुन तुम्हारी भुजायें बड़ी-बड़ी हैं, विशाल हैं, आजानुलम्बित हैं अतः हे महाबाहो! मैं बार-बार पीछे अपना प्रभाव बता आया हूँ, फिर भी और भी तुम मेरा यह श्रेष्ठ वचन सुनो।

अर्जुन ने विनीत भाव से कहा—स्वामिन्! इस अकिञ्चन दास पर आपकी इतनी अजस्र अनुकम्पा किस कारण से है?

भगवान् ने कहा—भैया, अर्जुन! तुम मुझसे स्नेह रखते हो, तुम मेरे प्रति प्रीति युक्त बने हुए हो। अतः स्नेह के वशीभूत होकर ही मैं तुमसे पुनः-पुनः कहता हूँ, जो अपने स्नेह भाजन हैं, दया के पात्र हैं। उनकी हित कामना होना स्वभाविक है। अतः तुम्हारे हित के निमित्त इसलिये कह रहा हूँ, कि तुम्हारा कल्याण हो, मंगल हो।

अर्जुन ने कहा कैसा है आपका प्रभाव दीनबन्धो!

भगवान् ने कहा—"तुम मेरे प्रभाव के सम्बन्ध में क्या पूछते

हो। वड़े-वड़े महर्षि गण भी, वड़े-वड़े देवता गण भी मेरे यथार्थ प्रभाव को नही जानते।"

अर्जुन ने पूछा—महर्षि तो त्रिकालज्ञ होते हैं, देवता तो सर्वज्ञ होते हैं, वे आपके प्रभाव को क्यों नहीं जानते?"

भगवान् ने कहा—कैसे भी सर्वज्ञ हों, कैसे भी त्रिकालज्ञ् हों, मेरे यथार्थ प्रभाव से तो वे भी अनभिज्ञ ही हैं। क्योंकि सभी प्रकार से मैं ही समस्त देवताओं का सभी महर्षियों का आदि कारण हूँ। ये सब मुझसे पीछे ही उत्पन्न हुए हैं। तब तुम्ही बताओ। नानी के विवाह का बात धेवती कैसे जान सकती है?

अर्जुन ने कहा—जब आपके प्रभाव को जाने बिना अज्ञान अन्धकार दूर नही हो सकता, तो कोई भी तो आपके प्रभाव को जानता होगा?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका जो उत्तर भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मम प्रभाव कूँ नहीं आज तक जानत कोई।
प्रकटित कैसे होहुँ रहस जानत नहिँ सोई॥
अजर अमर सुर होहिँ प्रभव मेरो नहिँ जानें।
ऋषि महर्षि सरवज्ञ न जानें कपि यह मानें॥
जानें कैसें ये सबहिँ, सुर महर्षि मेरो मरम।
हौं महर्षि अरु सुरनि को, कह्यो आदिकारन परम॥

प्राणियों के विभिन्न भाव भगवान् से ही होते हैं

[२]

योमामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयश ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३, ४, ५, श्लोक)

छप्पय

जनम रहित अज मोइ अजनमा जो करि मानें ।
कारन सबको आदि ज्ञान तैं जो पहिचानें ॥
भूत चराचर माहिँ एकई हौं महान हौं ।
सब लोकनि को ईश सर्वगत ज्ञानवान हौं ॥
जो यह जानत तत्त्व तैं, वही जथारथ तत्त्ववित ।
सब पापनि तैं मुक्त ह्वै, पाइ परम पद सो तुरत ॥

---

*जो मुझ अज अनादि लोक महेश्वर को भली भाँति जानता है, वह सब प्राणियों में ज्ञानवान् है, वह सभी पापों से छूट जाता है ॥३॥

जीव भगवान् को भूलकर ही पापकर्मों में प्रवृत्त होता है। हम लोग जो अपने को आस्तिक-ईश्वर को मानने वाला-कहते हैं, वे ईश्वर को या तो हृदय से मानते ही नहीं। यदि मानते भी है तो एकदेशीय। ईश्वर मन्दिर में बैठा है, या क्षीरसागर में शयन कर रहा है, या अमुक तीर्थ स्थान पर है। यदि हम उन्हें समस्त लोक का एकमात्र सबसे श्रेष्ठ ईश्वर, प्रभु, स्वामी मान लें। तो फिर पापकर्मों में हमारी प्रवृत्ति ही न हो, हमारा संसार के प्रति सम्मोह हो गया है। यह घर मेरा है, यह बाग, बगीचा, वापी, कूप तड़ाग मेरे हैं यह स्त्री, बच्चे, सगे सम्बन्धी परिवार वाले मेरे हैं। इस सम्मोह के कारण ही हम पापकर्मों में प्रवृत्त होते हैं। सबसे पहिले तो यह दृढ़ धारणा हो जाय कि जगत् के एकमात्र आदि कारण भगवान् ही हैं, दूसरी यह धारणा स्थिर हो जाय, कि भगवान् साधारण जीवों की भाँति जन्म नहीं लेते। वे जन्म मरण आदि विकारों से रहित हैं और तीसरी धारणा यह हो जाय, कि वे सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा तथा सर्वलोक महेश्वर हैं जहाँ यह धारणायें दृढ़ हुई नहीं कि वहाँ मोह का क्षय हुआ नहीं। मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है। ऐसा प्राणी पाप पुण्य, सुख दुख आदि द्वन्द्वों से छूटकर निर्द्वन्द्व, निर्मुक्त हो जाता है। धारणा यही बनी रहे, कि संसार के सभी भाव भगवान् से ही हो रहे हैं। अच्छा बुरा खोटा खरा सब उन्हीं द्वारा संचालित है।

बुद्धि, ज्ञान, असमूढ़ता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति और प्रलय तथा भय और अभय ॥४॥

अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश अपयश आदि जो प्राणियों के नाना भाव होते हैं, वे सब मेरे से ही होते हैं ॥५॥

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् के प्रभाव के सम्वन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहते लगे—अर्जुन ! ये देवता, ऋषि, मुनि, प्रजापति, इन्द्र, मनु आदि सब मुझसे ही मेरे पश्चात् हुए हैं, सबका आदि कारण तो मै ही हूँ ये सब तो मेरे विकारभूत है, भला ये मेरे पूर्ण प्रभाव को क्या जान सकते हैं। जो मेरी ही कृपा से सबके आदि कारण मुझ अनादि पुराण पुरुष को तत्त्व से जान लेता है और यह उसकी दृढ़ धारणा हो जाती कि मै कभी न जन्म लेने वाला अज हूँ। समस्त चराचर प्राणियों का सबसे बड़ा ईश्वर हूँ, वह पुरुष समस्त प्राणियो में सम्मोह से रहित बन जाता है। जो सम्मोह से रहित हो जाता है, उसे भला पाप पुण्य कैसे स्पर्श कर सकते है। वह गुणातीत हो जाता है। जितने भी जगत् के सुख दुःखादि भाव हैं, उनका बीज मै ही हूँ, मैं ही उनका आदि कारण हूँ। बुद्धि की जो इतनी प्रशंसा है वह बुद्धि मुझसे ही होती है।

अर्जुन ने पूछा—बुद्धि के जनक कैसे हैं आप ?

भगवान् ने कहा—"बुद्धि एक भीतर की इन्द्रिय वृत्ति है। जो सूक्ष्म वस्तुएँ होती हैं उनका जो वृत्ति विवेचन करे उसी का नाम बुद्धि है. जब प्रकृति, महत्तत्व आदि का स्वामी मै हूँ, तो इनसे पीछे की वृत्ति है। अतः बुद्धि तथा अबुद्धि दोनों ही मुझमे हुई हैं। ज्ञान भी मुझसे ही होता है।"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या है प्रभो ?

भगवान् ने कहा—यह आत्मतत्त्व है, यह अनात्मतत्त्व है। इसको भली भाँति जान लेना ही ज्ञान है। आत्मा और अनात्मा के विवेक से रहित होना ही अज्ञान है। ये सब भाव मुझसे ही हैं। असम्मोह भी मुझसे ही है।

अर्जुन ने पूछा—असम्मोह क्या ?

भगवान् ने कहा—देखो, यह करने योग्य कार्य हैं, यह जानने योग्य विषय है ऐसे जब प्रसंग उपस्थित हो जायँ, वहाँ पर चित्त में हड़बड़ाहट न हो घबरावे नहीं किन्तु विवेक के साथ जो करने योग्य हो उसे हो करे, किसी प्रलोभन में फँसकर न करे इसी का नाम असम्मोह है। यह भाव भी मुझसे ही है, और जो ज्ञातव्य तथा कर्तव्य के विषय में मोह को प्राप्त हो जाना है वह भी मेरे से ही होता है। तुम्हें जो सम्मोह हुआ था वह भी मेरे ही द्वारा किया गया था। इसी प्रकार क्षमा भाव भी मेरे से ही होता है।

अर्जुन ने पूछा—क्षमा किसे कहते हैं भगवन् !

भगवान् ने कहा—दूसरों के द्वारा दुःख दिये जाने पर—उसके प्रतीकार करने मे समर्थ होने पर भी प्रतीकार करने की भावना मन में न उठे और निर्विकार बना रहे क्रोध न करे। गाली देने वाले या मारने वाले का मन से कल्याण ही चाहे इसी का नाम क्षमा है। इसके विपरीत गाली देने पर या अन्य कष्ट देने पर देने वाले के प्रति क्रोध करना उसे ताडना देना अक्षमा है ये दोनों ही भाव मेरे से हो है। सत्य भी मेरा ही भाव है।

अर्जुन ने पूछा—"सत्य क्या है प्रभो !"

भगवान् ने कहा—यथार्थ कथन को सत्य कहते हैं। जैसे कोई भी घटना हो गयी, हम उसे प्रत्यक्ष रूप से सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा जैसा कुछ जानते हैं, उसे बिना कुछ नमक मिरच लगाये ज्यों का त्यों कह दें उसी का नाम सत्य भाषण है, इसके विपरीत घटना तो कुछ और है और हम कहें उसे विपरीत रूप में यह असत्य है। ये भाव भी मुझसे ही होते हैं। शम और दम भी मुझसे ही है।

अर्जुन ने पूछा—शम दम क्या होते हैं प्रभो ?

भगवान् ने कहा—शम कहते हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहं-

कार जो भीतर की इन्द्रिया हैं उनका शमन करना अर्थात् अन्त:-करण को शान्त रखना। इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों को उनके तद्नद् विषयों को हटाना—अपनी इन्द्रियों का दमन करने को दम कहते हैं। इसके विपरीत जो अशम और अदम है वे सब मेरे से ही हुए भाव है। सुख दु:ख भी मेरे ही भाव है।

अर्जुन ने कहा—सुख दुख की क्या व्याख्या है?

भगवान् ने कहा—सुख दुख तो संसार में प्रसिद्ध ही है। जो अपनी इन्द्रियों के अनुकूल हो उसे सुख कहते हैं। धर्म करने से ही सदा सुख मिलता है। सुख का मूल कारण धर्म ही है। इसी प्रकार अधर्म का कारण दु:ख है। दु:ख कोई नही चाहता क्योंकि वह इन्द्रियों के प्रतिकूल वेदना है। सुख दु:ख दोनों मुझमे ही होते हैं, इसी प्रकार भव और भाव भी मुझसे ही है।

अर्जुन ने पूछा—भव भाव किसे कहते है?

भगवान् ने कहा—भव कहते हैं उत्पत्ति को। भाव कहते हैं सत्ता को अर्थात् उत्पत्ति अभाव जो भी कुछ हैं मेरे ही द्वारा हैं। भय और अभय भी मेरे से ही है।

अर्जुन ने पूछा—भय और अभय क्या?

भगवान् ने कहा—भय माने डर अभय माने निडर। कोई किसी को त्रास देता है, उससे आदमी भयभीत हो जाता है। एक सब को त्रास रहित निर्भय बना देता है, इसका नाम अभय है। दुष्टों को भयभीत भी मै ही करता हूँ और अपने भक्तों को सन्तों को अभय प्रदान भी मैं ही करता हूं। प्राणीमात्र मे निर्भय बना देता हूँ। कहाँ तक गिनाऊँ अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश और भाँति-भाँति के अनुकूल प्रतिकूल सभी भाव मेरे से ही होते हैं।

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आप तो एक साथ ही कह गये। इनका अर्थ भी मुझे समझाइये।"

भगवान् ने कहा—ये भाव तो लोक में बहुत ही प्रसिद्ध हैं, इनकी व्याख्या क्या करूँ। किसी को हिंसा न करना प्राणी मात्र को पीडा न पहुँचाना इसी का नाम अहिंसा है। सबमें समान भाव से एक ही आत्मा के दर्शन करना, किसी में विषम व्यवहार न करना राग द्वेष से रहित होकर सबको समान समझने का अर्थ समता है। जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना, बहुत हाय-हाय न करना, यदृच्छा लाभ से सन्तोष रखने को तुष्टि कहते हैं। शास्त्रीय मार्ग से शरीर तथा इन्द्रियों को तपाना तप कहलाता है। जैसे व्रत, अनशन आदि हैं। जो अपनी वस्तु है, न्याय द्वारा उपार्जित की गई है उसे देश काल और पात्र देख कर दूसरों को दे देना। उसमें से अपनेपन को हटा लेने का नाम ही दान है। हमने कोई लोकोपकारी पवित्र कार्य किया उसके द्वारा जो जनता में प्रसिद्धि हो जाती है उसी को यश कहते हैं। इसके विपरीत अधर्म कार्य करने से जो लोक मे निन्दा फल जाती है, सभी लोग जिसे धिक्कारते है उसी का नाम अयश है।

ये समस्त भाव अपने-अपने कारणों के सहित मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं। धर्म भी मुझसे ही उत्पन्न हुआ है और अधर्म भी मुझी से हुआ है। धर्म मेरे हृदय से उत्पन्न है और अधर्म पृष्ठ भाग से। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं, सभी की उत्पत्ति का एक मात्र कारण तो मैं ही हूँ। इसीलिये मैं इस सम्पूर्ण लोक का, चराचर विश्व का, स्थावर जंगम का एक मात्र स्वामी लोकाध्यक्ष, लोक महेश्वर हूँ। मुझसे पर तर कुछ भी नहीं है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! ये समस्त भाव ही आप से उत्पन्न

हुए हैं यह बात तो मैंने जान ली। अब कृपा करके यह बतावें, जिन प्रजापतियों ने इस सम्पूर्ण जगत को प्राणियों से पूरित कर दिया है। वे प्रजापति सब अपने मन से स्वतः ही सन्तानें पैदा कर लेते हैं क्या? इन्द्र मनु, प्रजापति सप्तर्षि जो ये होते रहते हैं और बदलते रहते हैं ये किनकी प्रेरणा से होते हैं?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जैसे इस प्रश्न का उत्तर दिया है उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

प्रानिनि में जो भाव होहिँ मोई तैं सबई।
कौन-कौन से भाव गिनाऊँ तोकूँ अबई॥
करैं जाइ नहिँ करैं 'बुद्धि' निरनय कारक सो।
'ज्ञान' जथारथ बोध न मोहित 'असम्मोह' सो॥
अपराधी हू पै दया, 'छमा' कहैं 'सत' जथारथ।
'शम' इन्द्रिय निग्रह कह्यो, 'दम' मनवश के है अरथ॥

(५)

'सुख' 'दुख' 'भय' अरु 'अभय' सबहिँ इसप्ट कहावें।
'भव' उत्पत्ति 'अभाव' प्रलय ताकूँ बतलावें॥
'समता' और 'अहिंसा' हू अरु 'तोप' पुष्टि है।
'यश' 'अपयश' अरु 'दान' तपस्या तननि पुष्टि है॥
अवरोधी अरु विरोधी, मोई तैं सब भाव हैं।
मोई तैं उत्पत्ति है, मोमें भाव अभाव हैं॥

विभूति योग माहात्म्य

[३]

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ६, ७ श्लोक)

छप्पय

अत्रि अङ्गिरा पुलह पुलस्त्यहु क्रतु मरीचि जिनि।
सप्तम कहे वसिष्ठ जिन्हीं 'सप्तर्षि' कहे मुनि॥
ये सब सात महर्षि सनातन सनक सनन्दन।
चौथे सनतकुमार आदि मनु होहिँ पुरातन॥
मेरे भावहिँ तेँ भयो, जिननि करी यह प्रजा सब।
उपजैं मन-संकल्प तेँ, ये ही जग की ध्वजा सब॥

---

* सप्तर्षिगण, पूर्वउत्पन्न चारो सनकादि तथा समस्त मनु ये सब मेरे मे भाव रखते वाले हैं, मेरे ही मानसिक सकल्प से होते हैं। संसार मे इन्ही से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है॥६॥

मेरे इस विभूतयोग को जो तत्त्व से जानता है, वह निश्चय योग द्वारा मेरे मे ही युक्त हो जाता है, इसमें संशय नही॥७॥

यह जगत् अनादि है। अब तक कितने ब्रह्मा, कितने विष्णु, कितने रुद्र हो गये हैं, इसकी कोई गणना नहीं। कितने ब्रह्माण्ड हैं, उनमें कितने त्रिदेव हैं इइको भी कोई गणना नहीं। यह संसार चक्र कब से चल रहा है किसी को इसका पता नहीं, कब तक चलेगा इसको भी कोई गणना नहीं। फिर भी सृष्टि क्रम समझने को एक शृंखला बताते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिये एक ब्रह्मा महाविष्णु से उत्पन्न होते हैं। वे ब्रह्मा ही पूरे ब्रह्माण्ड को जीवों से भर देते हैं। समस्त जीवों के जनक ब्रह्माजी ही हैं। ब्रह्माजी कभी भगवान् के कान से उत्पन्न होते है, कभी हृदय से, कभी नाभि के कमल से। एक ब्रह्मा सौ वर्ष तक रहते है, फिर महाप्रलय हो जाती है। महाप्रलय के पश्चात् दूसरे ब्रह्मा आते हैं। सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्माजी का एक दिन होता है उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। दिन में ब्रह्माजी सृष्टि का कार्य करते है, रात्रि में विश्राम करते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में भू भुव और स्वर्ग तीनों लोकों की प्रलय हो जाती हैं। प्रलयाग्नि तीनों लोको को भस्म कर देती है। उसकी उष्णता महर्लोक में भी पहुँच जाती है। इससे वह लोक नष्ट तो होता नहीं। वहाँ के निवासी जनलोक में चले जाते हैं। अतः प्रलय में जन, तप और सत्य ये ही तीनों लोक बच जाते हैं। महाप्रलय मे पूरे के पूरे ब्रह्माण्ड की प्रलय हो जाती है। यह चक्र अनादि काल से चल रहा है अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस पाद्मकल्प के ब्रह्मा का जन्म भगवान् की नाभि कमल से हुआ। नये ब्रह्मा आते हैं तो सृष्टि कैसे करनी चाहिये इस विषय में विमोहित हो जाते हैं। भगवत् कृपा से फिर उन्हें सृष्टि करने की युक्ति सूझती है। हाँ तो हम इस ब्रह्मांड के आदि सत्ययुग में सर्वप्रथम सृष्टि कैसे हुई इसे ही बताते है। सबसे पहिले

भगवान् ने दश प्रकार की सृष्टि की उन्हें ही दश विधि सर्ग कहते हैं। उनमें ६ प्रकार की प्राकृत सृष्टि है और चार प्रकार की वैकृत सृष्टि है। अभी तक सृष्टि करने की ही ओर ब्रह्माजी का लक्ष्य था। सृष्टि के संहारकर्ता रुद्र का अभी मन में सकल्प भी नहीं किया था अतः। रुद्र के पूर्व की सृष्टि तब तक बनी रहती है जब तक ब्रह्माजी रहते हैं। पहिले ६ प्राकृत सर्गों को समझलें। जब प्रकृति में विकृति आती है, सब से पहिली सृष्टि है महत्तत्व की। दूसरी है अहकार की तीसरी भूतों की चौथी इन्द्रियों की, पांचवी इन्द्रियों की अधिष्ठातृ देवों की और छटी है अविद्या की। क्योंकि अविद्या के विना सृष्टि होती ही नहीं, इन ६ को प्राकृत सृष्टि कहते है। अब इस प्रकृति से जो विकृतियाँ होती हैं वैसी चार प्रकार की सृष्टि है। पहिली सृष्टि वृक्षों की। सृष्टि में सबसे पहिले वृक्ष होते हैं। वे ६ प्रकार के हैं दूसरी सृष्टि पशु-पक्षियों की गाय भैंस घोड़ा बकरी पक्षी सर्प ये २८ प्रकार के होते हैं। तीसरी सृष्टि मनुष्यों की चौथी सृष्टि देवताओं की। इस प्रकार ब्रह्माजी ने दश प्रकार की सृष्टि की रचना की। (१) प्रकृति, (२) महत्तत्व, (३) अहंकार, (४) शब्द, (५) रूप, (६) रस, (७) गंध, (८) स्पर्श, ये आठ प्रकृतियाँ और (१०) इद्रियाँ ग्यारहवाँ मन पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश पचभूत इन २४ तत्त्वों से बना यह ब्रह्माण्ड है। ऐसे असंख्यों ब्रह्माण्ड जिन श्रीहरि के शरीर से निकलते रहते हैं और विलीन होते रहते हैं उन महाविष्णु जगन्नियन्ता कारणों के कारण प्रभु के पादपद्मों में नमस्कार है।

सृष्टि अज्ञान से होती है। अज्ञान के विना लौकिकी सृष्टि नहीं। अतः सर्वप्रथम भगवान् ने तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र जिन्हें योग दर्शन के शब्दों में अविद्या,

अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष कहते हैं ये रचीं। इस अविद्या की सृष्टि से ब्रह्माजी सुखी नहीं हुए। फिर पवित्र होकर तपस्या करके दूसरी कौमार सृष्टि की। सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार किन्तु पहिले घोर तामस यह घोर सात्विक। दोनों ही आगे की सृष्टि चलाने में असमर्थ। इन कुमारों से कहा—सृष्टि बढ़ाओ। किन्तु इनको कोई अस्पृहा ही नहीं थी। तब ब्रह्माजी को क्रोध आ गया। तभी उनकी दोनों भौंहों के मध्य से ये रुद्र उत्पन्न हुए। मानो संहार का सूत्रपात हो गया। इनसे भी सृष्टि करने को कहा। इन्होने अपने ही समान भूत प्रेत पिशाच पैदा किये। ये सृष्टि को बढ़ाने वाले न होकर खाने वाले हुए अतः ब्रह्माजी ने इन्हें सृष्टि करने से रोक दिया। तप करने को कहा। सृष्टि को बढ़ते न देखकर ब्रह्माजी को बड़ी चिन्ता हुई। स्वस्थ चित्त होकर उन्होंने मध्य मार्ग अपनाया। न पूरे रजोगुणी न पूरे सत्वगुणी रजमिश्रित सत्व से १० पुत्र उत्पन्न किये। उस समय तक स्त्री की तो सृष्टि हुई नहीं थी। सब संकल्प सृष्टि थी। जैसे ब्रह्माजी भगवान् के शरीर में उत्पन्न हुए थे, वैसे ही उन्होंने अपने शरीर से दश पुत्र पैदा किये। अपनी गोद से (१) नारदजी को, अँगुठे से (२) दक्ष को, प्राण से (३) वसिष्ठजी को त्वचा से (४) भृगुजी को, कर से (५) क्रतु को नाभि से (६) पुलहजी को, कानों से (७) पुलस्त्यजी को, मुख से (८) अङ्गिराजी को, नेत्रों से (९) अत्रिजी को मन से और (१०) मरीचि को और अपनी छाया से कर्दम मुनि को उत्पन्न किया। ये ग्यारह ऋषि मानसिक हैं। और भी बहुत से पुत्र ब्रह्माजी ने मन से पैदा किये। परन्तु ये मन से उत्पन्न महर्षि मनन प्रधान हुए इन्होने ब्रह्माजी के सृष्टि वृद्धि कार्य में कुछ भी सहयोग नहीं दिया। तब ब्रह्माजी बड़े चिंतित हुए सृष्टि कैसे बढ़े। सृष्टि की

चिंता करते-करते उनके शरीर के दो भाग हो गये। एक शतरूपा दूसरे मनु ससार मे सबसे पहिली नारी शतरूपा ही है। इन मनु भगवान् से ही सर्वप्रथम मैथुनी सृष्टि प्रारम्भ हुई। मनु और शतरूपा के ससर्ग से (१) आकूति (२) देवहूति और (३) प्रसूति ये तीन कन्यायें तथा प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दो पुत्र हुए। संपूर्ण ससार को उत्पन्न करने वाली आकूति, देवहूति और प्रसूति ये ही हैं इन्हीं से यह संसार स्त्री पुत्रों से परिपूर्ण हो हो गया। हाँ तो मनुपुत्री देवहूति का विवाह कर्दम महर्षि मे हुआ। महर्षि कर्दम से देवहूति के गर्भ से ६ कन्यायें हुई। भगवान् ब्रह्मा के १० पुत्र थे। उनमें से नारद किसी भी प्रकार विवाह करने को तैयार न हुए। शेष जो (१) मरीचि, (२) अत्रि, (३) अङ्गिरा (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु (७) भृगु, (८) वसिष्ठ, और (६) अथर्वा को कर्दम महर्षि की (१) कला (२) अनसूया (३) श्रद्धा, (४) हविर्भू (५) गति (६) क्रिया (७) ख्याति (८) अरुन्धती (६) और शांति ये क्रमशः विवाह दीं। इनमें से ब्रह्माजी (१) मरीचि (२) अङ्गिरा (३) अत्रि (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु और (७) वसिष्ठ इत सातों को सप्तर्षि बनाकर महर्षि की उपाधि दी। ये महर्षि स्वाध्याय तपस्या तथा अग्नि-होत्र से सम्पन्न होते हैं गृहस्थी होते हैं प्रजा की वृद्धि हो इसीलिये ये दार ग्रहण करते हैं तथा अग्नि की आराधना करते हैं। वैसे गृहस्थी लोग भू, भुव और स्वर्ग लोक से आगे नही बढ़ सकते। और जन, तप तथा सत्यलोक ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी इन दाररहित तीन आश्रम वालों के ही लिये है। फिर भी ये महर्षिगण स्वर्ग से भी ऊपर के लोक महर्लोक में निवास करते हैं और प्रलय काल में जनलोक तक चले जाते हैं। *प्रत्येक कल्प में मनु, इन्द्र, मनुपुत्र, सप्तर्षि, मन्वन्तरावतार, और*

मन्वन्तर के देवगण ये ६ प्रत्येक मन्वन्तर में बदल जाते हैं। सबसे आदि सर्ग में मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये सात सप्तर्षि थे। सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार ये इन सबसे भी-मैथुनी सृष्टि से-बहुत पहिले उत्पन्न हुए थे। स्वायम्भुवमनु तो मैथुनी सृष्टि के आदि पुरुष ही थे। ब्रह्माजी के एक दिन में १४ मनु बदल जाते हैं। कैसा है यह सृष्टि चक्र। जब इस सृष्टि पर हम विचार करते हैं, तो हमारे ब्रह्मांड का स्थान गूलर के वृक्ष पर लगे हुए करोड़ों गूलर के फलों में से एक गूलर के समान है। और उस गूलर में हमारी स्थिति एक भिनगे के समान भी नहीं। ब्रह्मांड में जम्बूदीप का क्या स्थान, जम्बूदीप में भी भारतवर्ष का क्या स्थान, भारतवर्ष में भी भी प्रयाग जनपद का क्या स्थान। प्रयाग जनपद में भी इस छोटे से प्रतिष्ठानपुर का क्या स्थान। उसमें भी असंख्यों जीवों में से इस क्षुद्र जीव का क्या स्थान? इतना क्षुद्र होने पर भी यह जोव कितना अहंकर में भरा रहता है। अपने को क्या लगता है। कैसे निस्तार करोगे प्रभो! कैसे अपनाओगे? कैसे अहंकार को चूर्ण करोगे?

सूतजी कहते है—सुनियो! जब अर्जुन ने सप्तर्षि, इन्द्र प्रजापति आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् ने कहा— अर्जुन! जितने भी ये विश्व के कर्ता कहलाते है, वे सब मेरे ही संकल्प से उत्पन्न होते है। आदि में जो महर्षि हुए, सप्तर्षि हुए सनक, सनन्दन, सनातन और सनत कुमार ये चार कुमार हुए, जितने मन्वन्तरों के मनु हुए, ये सब मेरे ही भाव से-मेरे ही संकल्प से होते हैं। मैं ही सब का आदि बीज हूँ।

अर्जुन ने कहा—भगवन् आपकी विभूतियाँ तो बड़ी विलक्षण हैं और असंख्य हैं। जीव इन्हें कैसे जान सकता है, यह

प्राणी कितने नीचे स्तर पर खड़ा है, वहाँ से आपकी महत्ता को यह कैसे समझ सकता है ?

भगवान् ने कहा—भैया ! यही तो बात है, मेरी विभूतियों की जानकारी कोई सहज बात नहीं । प्रयत्न तो बहुत लोग करते हैं, किन्तु उन्हें तत्त्वतः तो कोई विरला ही जानता है । सबसे आवश्यक जानना तो यही है, मेरी विभूतियों को जिन्होंने जान लिया उन्होंने सब कुछ जान लिया ।

अर्जुन ने पूछा—आपकी विभूतियों को जो तत्त्वतः जान लेता है, उसकी क्या गति होती है ?

भगवान् ने कहा—उसको सबसे उत्तम अन्तिम गति होती है । जो मेरे परम ऐश्वर्य को भली-भाँति जान लेता है, वह निश्चल योग से युक्त हो जाता है । फिर उसे कोई भी भाव किसी भी प्रकार से विचलित करने में समर्थ नहीं होता इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है ।

अर्जुन ने पूछा—"कैसा है आपके विभूति योग का ज्ञान स्वामिन् ! किस प्रकार उससे निश्चल योग की प्राप्ति होती है कृपा करके इसे मुझे बता दीजिये । क्योंकि आपके अतिरिक्त इसका सर्वोत्तम उपदेष्टा मुझे मिल ही नहीं सकता है ।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

अरजुन ! जिनिकूँ भाव-तत्त्व ऋषि मनु बतलावें।
ये ही मुख्य विभूति देव अरु द्रव्य कहावें ॥
मेरी सकल विभूति तत्त्व तैं जो जन जानें।
सोई तैं उत्पन्न होहिँ निश्चय करि मानें ॥
योग शक्ति मम तत्त्व तैं, जानि होहिँ शंका रहित।
जामें कछु संशय नहीं, पाइ योग अविचल सतत ॥

भक्तजन भगवद् भक्ति से सुखी होते हैं

[४]

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ८, ९ श्लो०)

छप्पय

भीतर बाहिर आदि अन्त को ज्ञाता मैं हूँ।
करता धरता और विधाता ज्ञाता मैं हूँ॥
मैं ई सबको प्रभव जगत मोतें ई उपजत।
सब कूँ रह्यो चलाय पाइ संकेतहिँ नाचत॥
श्रद्धा भक्ति समेत सब, मम गुन गावत बुध सतत।
वासुदेव मोकूँ समुझि, भक्ति भाव तैं वे भजत॥

---

* मैं ही सब प्राणियों का उत्पत्ति स्थान हूँ, मुझसे ही यह जगत प्रवर्तित होता है। इस प्रकार मानकर श्रद्धा भक्ति भाव से युक्त होकर बुद्धिमान जन मेरा ही भजन करते हैं ॥८॥

जिनका चित्त मुझमें ही लगा है; जिनके प्राण मुझमे लगे हैं, वे पुरुष परस्पर में प्रबोध करते हुए, नित्य ही मेरे ही सम्बन्ध मे कथन करते रहते हैं। मुझमे ही सन्तुष्ट रहते हैं, और मुझमे ही सदा रमे रहते हैं ॥९॥

जिसको जिस वस्तु का भारी व्यसन हो जाता है, वह उसी के सम्बन्ध की बात करता है, उसी की परस्पर में चर्चा करता है। और कोई माँगने को कहता है, तो उसी के सम्बन्ध की वस्तु माँगता है।

एक महात्मा थे, उनकी पत्नी बड़ी साध्वी पतिपरायणा पतिव्रता थी, उन महात्मा के बहुत से भक्त थे, वे चाहते थे माता जी हमें कोइ सेवा करने का अवसर दें। जैसे ही त्यागी निस्पृह महात्मा थे, वैसी ही उनकी पत्नी भी थी।

एक दिन एक बहुत बड़े धनिक व्यापारी ने आकर महात्मा की पत्नी से कहा—"माता जी! मेरे योग्य कोई सेवा बताइये।"

उन महात्मा को धूम्र पान का अभ्यास हो गया था। उनकी पत्नी ने कहा—"भैया, क्या सेवा बताऊँ, मुझे तो किसी वस्तु की आवश्यकता है नहीं।"

धनिक ने कहा—"नहीं, माता जी! आज कुछ तो सेवा बता ही दें।"

वैसे महात्मा निष्किञ्चन थे। कुछ भी उनके पास संग्रह नहीं था। निष्किञ्चन भगवत् भक्त एक दिन के भोजन के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का संग्रह करना ही नहीं चाहते। जब धनिक ने बहुत आग्रह किया तो सन्त पत्नी ने कहा—"अच्छा तो कल दो पैसा की सुरती लेते आना।"

कल के लिये तमाखू नहीं था, इतने बड़े धनिक से दो पैसे की सुरती माँगना उसका भी अपमान है और अपना तो भोलापन है ही, किन्तु जिसे जिस वस्तु का व्यसन लग जाता है, उसे उसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु सूझती ही नहीं है।

महाराज पृथु भगवान् के अंशावतार ही थे। निरन्तर भगवद् भक्ति में तल्लीन रहते थे। उन्हें भगवद् गुणानुवाद श्रवण करने

को मिल जायँ, तो इससे बढ़कर प्रिय वस्तु उनके लिये कोई और नहीं थी। उनको प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर परम पिता परमात्मा उनके सम्मुख प्रकट हुए और बोले—"राजन्! तुम्हारे सद्गुणो ने तथा सुंदर स्वभाव ने मुझे वश में कर लिया है, अतः तुम्हारी जो इच्छा हो, तुम जा भी चाहते हो, अच्छी से अच्छी वस्तु मुझसे माँग ला। मेरी प्रसन्नता प्राप्त करना सहज नहीं। मै उन्हीं पर प्रसन्न होता हूँ, जिनके चित्त में समता होती है। तुम्हारी समस्त प्राणियों में समबुद्धि है, अतः मुझसे इच्छित वर माँग लो।"

इस पर पृथु ने कहा—"भगवन्! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो मुझे मोक्ष तक की इच्छा नहीं है, मुझे तो आप यही वर दीजिये, कि मुझे आपके गुणानुवाद सुनने को दश सहस्र कान प्रदान कोजिये, जिनमें मैं आपकी ललित लीलाओं को निरन्तर सुनता ही रहूँ।"

भगवद्भक्तों को भगवत् कथा श्रवण का सत्संग का अत्यधिक व्यसन होता है, वे सत्संग के बिना भगवत् कथा के बिना रह ही नही सकते, भले ही भोजन के बिना रह भी जायँ, तभी तो भगवान् कपिलदेव जी ने अपनी माता देवहूति जी से कहा था—"माँ! मेरी चरण सेवा में प्रीति रखने वाले और मेरी ही प्रसन्नता के निमित्त सम्पूर्ण कार्य करने वाले, कितने ही बड़भागी भक्त जब परस्पर में मिलते हैं, तब प्रेम पूर्वक हठ पूर्वक मेरे ही पराक्रमों की आपस में चर्चा करते है। वे मेरे साथ एकी भाव की भा इच्छा नही रखते। माता जी! वे भगवद्भक्त अरुण नयन एवं मनाहर मुखारविन्द वाले मेरे परम सुदर और वरदायक दिव्य रूपों की झाकी करते हैं, उनसे सम्भाषण करते हैं।"

भगवत् भक्तों की सम्पत्ति भगवत् गुण श्रवण, भगवत्

सम्बन्धी गुणों का गान, भगवत् सेवा पूजा और भगवत् भावों का प्रचार प्रसार ही है। इसी लिये बुद्धिमान् जन भगवत् भजन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करते ही नही।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने विभूति योग के ज्ञान के द्वारा निश्चल योग की प्राप्ति कैसे होती है ऐसी जिज्ञासा की तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! मैं तुम्हें बार-बार बता ही चुका हूँ, फिर भी बताता हूँ, आगे भी उसी को दुहराता रहूँगा। देखो मै सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का एकमात्र कारण हूँ। मैं ही इस जगत का पालन करता हूँ, और अन्त में संहार भी मै ही करता हूँ। मुझे सर्वज्ञ सर्वशक्तिवान् से प्रेरित हुआ ही सम्पूर्ण जगत् अपनी मर्यादा में अवस्थित रहता है। सभी कारणों का आदि कारण मैं ही हूँ। ऐसा जानकर ही जो तत्त्वदर्शी हैं, ज्ञानी हैं भगवद् भक्त सन्त महात्मा है, वे बड़े भक्ति भाव से मेरा ही भजन करते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! वे भगवत् भक्त किस प्रकार आपका भजन करते हैं, कृपा करके इस विषय को स्पष्ट करके समझा दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"देखो, मेरे भक्तों का चित्त मुझमें ही लगा रहता है, उनका चित्त इत उत चलायमान नहीं होता। संसारी विषयों में फँसता नहीं। तथा उनकी इन्द्रियाँ तथा प्राणादि सब मेरे में ही लगे रहते हैं। वे देखते हैं, तो मेरे स्वरूपों को ही देखते हैं, सुनते हैं तो मेरे गुणानुवादों को ही सुनते हैं। उन्होने अपना समस्त जीवन मेरे निमित्त अर्पण कर रखा है समस्त इन्द्रियों के व्यापार मेरे ही निमित्त उपसंहृत कर रखे हैं। मेरे भजन के अतिरिक्त उनके जीवन का अन्य कोई लक्ष्य ही नहीं रह गया है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! आपके ऐसे अनन्य भक्त कहीं अन्यत्र जाते भी न होंगे, किसी से बातें भी न करते होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"जाते क्यों नहीं, परन्तु वहीं जाते हैं जहाँ भगवत् भाव हो, जहाँ भगवत् चर्चा का सुयोग हो वे भगवत्भक्तों की सभाओं में भी जाते हैं, लोगों से बातें भी करते हैं। व्याख्यान, प्रवचन, कथोपकथन तथा उपन्यास भी करते है, किन्तु करते हैं भगवत् सम्बन्धी ही प्रवचन। संसार के सम्बन्ध की बातें नहीं करते। वे विद्वन्मडलों में श्रुतिस्मृतियों की युक्तियाँ दे देकर मेरे ही विषय का बोधन करते हैं मेरी ही महिमा का गान करते हैं। जब उनसे जिज्ञासु गण प्रश्न करते है, तब उनसे मेरे ही सम्बन्ध का कथनोपकथन करते है। किसी को उपदेश देना हुआ, तो मेरे ही सम्बन्ध का उपदेश देते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—इसका परिणाम क्या होता है ? ऐसा करने से उनकी स्थिति कैसी हो जाती है ?

भगवान् ने कहा—देखो, ऐसा करने मे उनकी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो जाती है, वे अनुभव करते हैं, कि हमने अपने जीवन को भगवत्मय बना लिया तो मानों हमने सब कुछ कर लिया। संसार में सन्तोष ही को परम सुख बताया है। जिन्हें सन्तोष नहीं है उन्हें संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तो भी उन्हें सुख नहीं होता। संसार के जितने भी भोग हैं, सब एक ही पुरुष को दे दिये जायँ, तो भी उन सबसे उसकी तुष्टि न होगी। संसार भरके कामजनित सभी सुख तथा स्वर्गीय सभी सुख असंतोषी को मिल जायँ, तो भी वह सुखी न होगा, किन्तु सन्तोषी पुरुष केवल जल से ही सुखी हो जायगा। जिसकी जितनी ही तृष्णा कम होगी वह उतना ही अधिक सुखी होगा और जिसकी जितनी ही अधिक तृष्णा बढ़ी-चढ़ी होगी वह उतना ही अधिक दुखी

होगा। भगवत् भक्त तृष्णा क्षय होने से परम सन्तुष्ट हो जाता है और मुझमे ही रमण करता है, मेरे में ही विहार करता है, वह निरन्तर सन्तोष और सुख का अपनी आत्मा में अनुभव करता रहता है। असन्तुष्ट द्विज नष्ट हो जाता है। सन्तोष सर्व समृद्धि से भी बढ़कर सुख प्रदान करता है। अतः मच्चित्त, मद्गतप्राण, ममगुण कथनकर्ता, मेरे सम्बन्ध का उपदेष्टा सन्तोष सुख में रमण करता है अर्थात् सन्तोष की अनुभूति करता है।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे अनन्य भक्त को आप भी तो कुछ देते होंगे प्रभो?

सूतजी कहते है—मुनियो! इसका जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूँगा।

छप्पय

मिलिकें सबई भक्त चित्त मो माहिँ लगावें।
मद्गत ह्वैकें प्रान परस्पर सुनें सुनावें॥
भक्ति भाव तें भरे पुलकि तनु जल नैननि में।
गावें गुन मम नित्य भाव भरि मन सैननि में॥
मेरे ई सम्बन्ध में, पढ़े, लिखें बोलें कहें।
सबई अति सन्तुष्ट ह्वै, रमन करत मोमें रहें॥

भक्तों के अज्ञान को भगवान् स्वयं ही कृपा करके नाश कर देते हैं

[५]

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० १०, ११ श्लोक)

छप्पय

सतत चित्त उन भक्तियुक्त भक्तनि कूँ भैया ।
जो मेरो नित ध्यान धरत सब गुननि गवैया ॥
मोई तैं नित प्रीति करें मोई कूँ चाहें ।
मेरो लेकें नाम करें कीर्तन गुन गायें ॥
भक्तियुक्त तिनि नरनि कूँ, देउँ ज्ञान अपनो सतत ।
बुद्धियोग तैं मोइ पे, पाइँ सतत सम रखहिँ चित ॥

---

* उन नित्य युक्त प्रीति पूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥१०॥

उन भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये ही उनके अन्तकरण में स्थित अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञान रूप दीपक द्वारा मैं नाश कर देता हूँ ॥११॥

सर्वान्तर्यामी जगन्नियन्ता प्रभु तो एक सच्चे न्यायाधीश के समान धर्म परायण सच्चे व्योपारी के समान हैं। जो न्याय की बात हुई विना वादी प्रतिवादी के, बिना ग्राहक के प्रति पक्षपात के कर दी। ये वर्ताव वे अंडज, जरायुज, स्वेदज तथा उद्भिज सभी जीवों के साथ करते हैं। किन्तु सर्वसाधारण ग्राहक या वादी प्रतिवादियों के साथ अपना कोई सगा सम्बन्धी या सुहृद् आ गया तो न्याय के सिंहासन पर या व्यापारी की गद्दी पर बैठ कर वर्ताव तो उससे भी वैसा ही करेंगे, किन्तु गद्दी से उतर कर अपनेपन के कारण उस पर विशेष कृपा करगे। उसके प्रति आत्मीयता अधिक सम्बन्ध होने के कारण उस पर विशेष अनुग्रह करेंगे, क्योंकि वन्धुओं के प्रति जो स्नेहानुबन्ध है उसे छोड़ देना मुनियों के लिये भी दुर्लभ है, फिर करुणावरुणालय, दयानिधान, करुणा की खान भगवान् के लिये तो और भी दुर्लभ है। यह बात निम्न दृष्टान्त से भली भाँति बुद्धिगम्य हो सकेगी।

जगन्नाथपुरी में एक महात्मा थे। व भगवान् की अनन्य भाव से सेवा किया करते थे। बिना किसी ससारी वस्तु की कामना के निष्कामभाव से भगवान् को ही चाहते थे। वे अहैतुकी भक्ति में सदा लीन रहते थे। जो कुछ चाहता है, भगवान् उसके प्रति निश्चिन्त रहते हैं, क्योंकि वह जो चाहता है, भगवान् तुरन्त उसे दे रहे है, क्योंकि न तो भगवान् के यहाँ किसी वस्तु की कमी है न वे कृपण ही हैं। हमने किसी से किसी वस्तु की इच्छा की, उस पर वह वस्तु है नहीं, कहीं से लाकर दे भी नहीं सकता तो वह संकोच में पड़ जाता है। अथवा जिसके पास वस्तुएँ तो बहुत भरी पड़ी हैं, किन्तु वह महाकृपण है, दातृत्वशक्ति उसमें नहीं है, उससे कितना भी प्रेमी सगा सम्बन्धी माँगे वह दे नहीं सकता। भगवान् में ये दोनों बात

नहीं। वे सर्वसम्पत्ति सम्पन्न हैं, उनके महान् भण्डार में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चारों पदार्थ अगणित संख्या में भरे पड़े हैं और वे उदार इतने हैं, कि वस्तुओं की तो बात ही क्या अपनी आत्मा को भी देने में नहीं हिचकते। अतः चाहे आर्तभक्त हो, जिज्ञासु हो, अर्थार्थी अथवा ज्ञानी भी क्यों न हो उनसे वे निश्चिन्त रहते है। आर्तभक्त है तो तुरन्त उसके दुख को दूर कर देते हैं, जिज्ञासु है, ता उसकी जिज्ञासा की पूर्ति कर देते हैं अर्थार्थी है तो वह जो अर्थ चाहता है, उससे भी अधिक अर्थ प्रदान कर देते है, यदि वह ज्ञानी है तो उसे मुक्ति दे देते हैं, किन्तु सदा चिंतित तो वे उस भक्त के लिये रहते हैं, जो न तो दुःख दूर कराना चाहता है. न वह किसी प्रकार के अर्थ के लिये लोलुप है और न उसे चार प्रकार की मुक्तियों में से किसी प्रकार की मुक्ति की ही इच्छा है। वह भगवान् से सिवाय उनके कुछ चाहता ही नहीं। वह चाहे कुछ न चाहे किन्तु भगवान् तो चाहते हैं इसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, असुविधा न हो, इसीलिये वे उस भक्त के सदा पीछे-पीछे घूमते रहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि जब यह मुझसे ही कुछ नहीं माँगता तो संसारी लोगों से तो माँगेगा ही क्या ? ऐसा न हो, कि मेरी तनिक सी असावधानी से भूखा न रह जाय। अतः भगवान् उस निष्किंचन निरपेक्ष अनन्य भक्त को पल भर को भी भूलते नहीं। उसे क्षणभर को बिसराते नहीं।

हाँ, तो वे भक्त अपने चित्त को सदासर्वदा भगवान् में ही लगाये रहते थे, उनके जीवन के सभी व्यापार भगवान् के ही निमित्त थे, वे निरन्तर भगवान् का ही गुणगान करते रहते, भगवान् के ही गीत गाकर सबको सुनाते रहते। विरक्त वे ऐसे थे, कि किसी वस्तु का संग्रह नहीं करते। भगवान् का प्रसाद जो

स्वतः दैवेच्छा से प्राप्त हो गया उसे ही पाकर अहर्निशि भगवत् भजन में तल्लीन रहते। केवल एक कौपीन ही पहिने रहते थे। एक बार उनको अतीसार की बीमारी हुई। बार-बार शौच जाते। शौच होकर आये हैं, फिर इच्छा हुई फिर गये। अन्त में इतने अशक्त हो गये, कि उनकी कौपीन में ही बार-बार शौच हो जाता। वे समुद्र के किनारे जाकर पड गये।

उसी समय एक लड़का आया। बार-बार उनकी कौपीन को धो देता। नई कौपीन पहिना देता। वह कई दिनों तक ऐसा करता रहा। इन्हे जब चेत हुआ बार-बार बच्चे को लंगोटी धोने में संलग्न देखा, तो पूछा—भैया, तुम कौन हो ?"

बालक ने कहा—"मैं जगन्नाथ हूँ।"

यह सुनकर भक्त रो पड़ा और बोला—"प्रभो ! आप मेरे ऊपर पाप क्यों चढ़ा रहे हैं। हाय ! ऐसा नीच कार्य आपके अनुरूप है ?"

भगवान् बोले—"भैया, क्या करूं, तुम्हारा दुःख मुझसे देखा नहीं जाता, तुम्हारी सेवा किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता।"

भक्त ने कहा—"जब यही बात है, तो स्वामिन् आप तो सर्व समर्थ हैं, कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सब कुछ कर सकते हैं। आप मेरे रोग को ही अच्छा कर देते। मेरी लंगोटी क्यों धो रहे हैं ?"

भगवान् ने कहा—भक्त, तुम यथार्थ कहते हो, मैं सब कुछ करने को समर्थ हूँ। परन्तु तुम निष्काम भक्तों के सम्मुख मेरी कुछ चलती ही नहीं। तुम यदि कभी स्वप्न में भी चाहते कि भगवान् मेरा रोग अच्छा कर दें, तो मैं तुरन्त अच्छा कर देता। किन्तु तुम तो कहते हो "यद् भाव्य तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्" मेरे प्रारब्ध में जो भी कुछ हो वह होता रहे। प्रारब्ध मेटने की मैं प्रार्थना नहीं करता। तो प्रारब्ध के भोग तो अपना

काम करेंगे ही। प्रारब्ध के भोग अपना काम करते रहें और मैं अपना काम करता रहूँ। मैं भक्तों के दुःखों को देख नहीं सकता। उनकी सेवा करने से मुझे परम सुख मिलता है। अतः सर्वान्तर्यामी भगवान् सर्वसाधारणों के साथ समान व्यवहार करते हैं, किन्तु भक्तों के भगवान् तो अपने अनन्याश्रित निष्किंचन निष्काम भक्तों के ऊपर विशेष कृपा करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा कि जो आपके तद्‌गत प्राण अनन्य भक्त हैं, उन्हें आप क्या देते हैं, तो भगवान् ने कहा—' उन्हें मैं बुद्धियोग देता है।"

अर्जुन ने कहा—"बुद्धियोग ही क्यों देते हैं और कुछ क्यों नहीं देते ?"

भगवान् ने कहा—"और वे कुछ मुझसे माँगते ही नहीं। वे निरन्तर दिन रात्रि मेरे ध्यान में निमग्न रहते हैं। वे घर द्वार, कुटुम्ब परिवार किसी की भी चिंता नहीं करते। वे न इस लोक के सुखों को चाहते हैं और न परलोक के दिव्य सुखों को ही चाहते हैं यहाँ तक कि वे मोक्ष भी नहीं चाहते। केवल सतत मेरा ही ध्यान करते रहते हैं और प्रेम पूर्वक मेरा ही भजन करते रहते हैं। वे लेन देन याचना प्रत्याचना से सर्वथा दूर रहते हैं। जब वे कुछ नहीं चाहते तो मैं उन्हें बिना माँगे, अपनी ओर से ही बुद्धि-योग दे देता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"उस बुद्धियोग से क्या होता है ?"

भगवान् ने कहा—उस बुद्धियोग द्वारा वे मुझको ही प्राप्त कर लेते हैं जैसी कि उनकी आन्तरिक अभिलाषा है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! आप तो परब्रह्म है, परंधाम हैं। आपको तो ज्ञान के ही द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान के बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती। उन आपके अनन्य भक्तों ने

पटसम्पत्ति सम्पन्न होकर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन किया नहीं। महावाक्यों का यथाथ मर्म समझा नहीं। विना उन्हें समझे अज्ञान दूर हो नही सकता। अज्ञान दूर हुए विना ज्ञान हो नहीं सकता और विना ज्ञान के मुक्ति सभव नही। केवल अनन्य भक्ति द्वारा आपको वे कंसे प्राप्त कर सकते हैं। ससार सागर से सदा के लिये वे मुक्त कैसे हो सकते हैं ?"

भगवान् ने कहा—देखा, मेरी अनन्य भक्ति करने वाले को अन्य किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं।

अर्जुन ने कहा—"साधन की आवश्यकता भले ही न हो, किन्तु उनके हृदय का अज्ञान अन्धकार दूर कैसे होगा ?

भगवान् ने कहा—"वे जो मद्‌चित्त मद्‌गत प्राण होकर प्रीति पूर्वक मेरा निरन्तर भजन करते रहते हैं, वह कृतज्ञ मैं फिर उनके किस काम आऊँगा ? मेरा भी तो उनके प्रति कुछ कर्तव्य हैं। मैं उनके ऊपर अनुकम्पा करके उनके हृदय में स्थित अज्ञानरूप अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपक के द्वारा नाश कर देता हूँ। उन भक्तों को अपनी ओर से कोई अन्य साधन नहीं करना पड़ता। उन्होंने तो अपना समस्त उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर छोड़ रखा है। तब फिर मैं उनके हृदय में अज्ञानरूप शत्रु को कैसे रहने दूँगा। मैं शत्रु को भगाने का कोई प्रयत्न नहीं करता। जहाँ घोर अन्धकार हो, उस अन्धकार को भगाने के लिये लाठी डंडा से उस खदेड़ना नहीं पड़ता। आप और कुछ भी मत करो। आग जला दो। प्रकाश कर दो। प्रकाश आते ही अन्धकार अपने आप चला जायगा। उसे भगाने को पृथक् प्रयत्न न करना पड़ेगा। यह काम मैं स्वयं करता हूँ। भक्तों को तो पता भी नहीं चलता। यह प्रकाशमय प्रज्वलित दीप कहाँ से आ गया, इसे कौन रख गया। इसलिये मेरे विभूतियोग का तत्त्वत जानने

वाला निश्चल भक्तियोग के द्वारा मुझमें ही स्थित होता है। मेरी अनन्य भक्ति की महिमा अपार है।"

सूतजी कहते हैं—जब भगवान् ने बार-बार विभूतियोग की अत्यधिक प्रशसा की, तो अर्जुन को विभूतियोग के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। अब जसे अर्जुन विभूतियोग के सम्बन्ध में विस्तार से प्रश्न करेंगे और भगवान् से उसे विस्तार पूर्वक बताने की प्रार्थना करेंगे, इसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

उनि पै किरपा करूँ उनहिँ सब सीख सिखाऊँ।
तिनिके अन्तःकरन माहिँ बसि बात बताऊँ।
हिय को तम अज्ञान ताहि हौं मारि भगाऊँ।
तिनिको तम नसि जाय ज्ञान की ज्योति जराऊँ॥
तत्वज्ञान ही दीप है, पुनि विवेक-बाती धरूँ।
करूँ प्रकाशित प्रेम तैं, ता दीपक तैं तम हरूँ॥

विभूतियोग के सम्बन्ध में प्रश्न (१)

[६]

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥*

(श्री भग० गी० १० अ०, १२, १३ श्लो०)

छप्पय

अरजुन कहिवे लगे—आपु अज परब्रह्म प्रभु ।
परमधाम विख्यात परम पावन जगपति विभु ॥
पुरुष पुरातन परमेश्वर परतत्त्व परावर ।
आदिदेव अखिलेश सनातन परम प्रभाकर ॥
सरव, सरवगत सरबमय, सबके सदा अधार हैं ।
पुरुषोत्तम परमातमा, निराकार साकार हैं ॥

---

* इस पर अर्जुन ने कहा—आप परब्रह्म हैं, परमधाम तथा परम पवित्र हैं, शाश्वतपुरुष, दिव्य, आदिदेव, अज तथा विभु हैं ॥१२॥

सम्पूर्ण ऋषिगण, नारादादि देवर्षिगण, असित, देवल, व्यास और आप स्वयं भी अपने को पूर्वोक्त विशेषण वाला बताते हैं ॥१३॥

हमें किसी विषय में जिज्ञासा तब होती है, जब उसकी प्रशंसा सुनते हैं किसी की महिमा सुनकर, माहात्म्य श्रवण करके यह जानने की इच्छा होती है, कि वह वास्तव में है क्या? कोई व्यक्ति है, उसके गुणों की उसके भक्ति भाव की, उसकी विद्वत्ता की जब हम निरन्तर प्रशंसा सुनते है, तो उसके दर्शनों की उसके सत्संग की मन में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। किसी देश की, किसी स्थान की, किसी तीर्थादि पावन स्थल की महिमा श्रवण करते हैं, तो उसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी की प्रत्यक्ष जाकर देखने की अभिलाषा होती है। इसी प्रकार किसी पुण्य पर्व का माहात्म्य श्रवण करते हैं, तो उस पर्व पर विशेष दान पुण्य का विधान है उसे करने को मन में स्वाभाविक उमंग उठती है।

भगवान् ने जब बारम्बार अपने विभूतियोग की प्रशंसा की और यह भाव व्यक्त किया। कि यह सब मुझसे ही उत्पन्न होता हैं, मुझसे परतर कुछ भी नहीं है, तब अर्जुन की जिज्ञासा होना स्वाभाविकी ही थी। इसीलिये अर्जुन ने इस विषय का प्रश्न विस्तार के साथ किया।

सूतजी कहते हे, मुनियो! विभूतियोग की अत्यन्त प्रशंसा सुनकर अर्जुन के मन में विभूतियोग के रहस्य को जानने की विशेष जिज्ञासा हुई। अपने आप स्वय अपने श्रीमुख से मक्तकंठ होकर जिसकी महिमा गाते-गाते थकते नहीं, वह विभूतियोग वास्तव में है, क्या? अर्जुन ने इसे अत्युक्ति नहीं समझा और न श्रीभगवान् के प्रति अपना अविश्वास ही प्रकट किया। भगवान् के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए उन्होंने पूछना आरम्भ किया।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! आप परब्रह्म हैं, परमधाम हैं। अर्थात् सबके एकमात्र आश्रय हैं। सबको प्रकाश प्रदान करने वाले हैं। आपकी पवित्रता के सम्बन्ध में भी सन्देह नहीं। स्वयं

तो आप परम पावन हैं ही, जो आपके सम्पर्क में आ जाते हैं, उन्हें भी आप पावन बना देते हैं।

यह बात मैं अपनी ओर से ही नहीं कह रहा हूँ, किन्तु जो ज्ञानी हैं, जिन्होंने समस्त शास्त्रों को श्रद्धा सहित श्रवण किया है, जो सत्यपरायण हैं, जिनका अन्तःकरण निरन्तर की तपस्या के कारण पवित्र बन गया है, ऐसे स्वयं प्रभव ऋषिगण भी आपकी इसी प्रकार प्रशंसा करते हैं। उनमें देवर्षि नारद सर्वप्रधान हैं यद्यपि वे देवर्षि सभी लोकों में बिना रोक टोक के विचरण करते रहते हैं, उनकी अव्याहत गति है, फिर भी देवताओं के लोकों में विशेष निवास करने के कारण वे देवर्षि कहाते हैं, जो त्रिकालज्ञ हैं, सत्यवादी हैं, जीवों को भगवत् सम्मुख करने का जो सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। जो संसार बन्धन से सर्वथा विमुक्त हैं, फिर भी दया के वशीभूत होकर, जीवों के ऊपर करुणा करके इस संसार से सम्बन्धित बने रहते हैं, दूसरों पर अनुग्रह करने को जो व्यग्र तथा कातर बने रहते हैं, जिन्होंने हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु को–जिनके गर्भ में श्रीप्रह्लादजी थे, उन्हें इन्द्र से छुड़वाया था तथा उसे अपनी कुटिया में रखा, उसे इच्छा प्रसव का वर देकर उसके गर्भस्थ पुत्र प्रह्लाद को लक्ष्य करके गर्भ में ही भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया था, जो गंधर्वयोनि में, तथा दासी पुत्र की योनियों में जाकर भी पुनःनारदत्व को प्राप्त हुए। उन मन्त्रों के द्रष्टा, त्रिविध शास्त्रों के रचयिता, भक्ति के आचार्य नारदजी ने भी आपकी ऐसी ही प्रशंसा की है। उनके अतिरिक्त भी चिरजीवी मार्कंडेय मुनि हैं अङ्गिरा, पुलह पुलस्त्यादि ऋषि हैं, वे सब भी एक स्वर से आपकी महिमा का गान करते हैं।

महर्षि कश्यप के जो वत्सर और असित पुत्र है तथा असित के पुत्र देवल हैं ये महान् तपस्वी शिव भक्ति परायण वेद शास्त्रों

में परम प्रवीण हैं, वे भी आपकी महिमा का गान करते हैं। इनके अतिरिक्त भगवान् वसिष्ठ के प्रपौत्र शक्ति के पौत्र तथा पराशरजी के पुत्र, सर्व विद्याविशारद समस्त वेदों का व्यास करने वाले, पुराणों की रचना करने वाले सत्यवती नंदन भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासजी ने भी आपको शाश्वत अर्थात् सदा सर्वदा एक रूप में रहने वाले, परमाकाश में, निज स्वरूप में अवस्थित रहने वाले सर्वप्रपञ्चातीत, सबके कारण सबके आदि पुरुष, स्वयं प्रकाश स्वरूप, कभी भी कर्मवश होकर जन्म न लेने वाले, सर्वगत सर्वान्तर्यामी पुरुष, शाश्वत, दिव्य, आदि देव, अज तथा विभु बताया है।

इन सबकी बात छोड़ दें। ऐसा भी हो सकता है, कि इन महर्षियों ने तो स्तुति वचनों में आपका वर्णन बढ़ा चढ़ाकर कर दिया हो, किन्तु आप तो स्वयं ही बारम्बार अपनी महिमा का वर्णन करते हुए अपने श्रीमुख से इन सब बातों का समर्थन कर रहे हैं, अपनी महिमा का बखान स्वयं कर रहे हैं। अतः इस सम्बन्ध की मुझे विशेष जिज्ञासा है।

भगवान् ने कहा—"क्या जिज्ञासा है भाई! क्या तुम्हें मेरे कथन में कुछ अत्युक्ति दिखायी देती है?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस सम्बन्ध में अर्जुन और जो जिज्ञासा करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मुँह देखी नहिँ कहूँ आपु सब जगके कर्ता।
भयो ज्ञान अब प्रभो! आपु ही धरता भर्ता॥
अपनी महिमा स्वयं आपुने मोइ बताई।
वेद शास्त्र इतिहास पुराननिनें हू गाई॥
कहैं सकल ऋर्षिदेव ऋषि, नारद अरु श्रीव्यास हैं।
मुनि देवल अरु असित ऋषि, आदि जगत इतिहास हैं॥

विभूति योग के सम्वन्ध में प्रश्न (२)

[७]

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवान्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥
स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

मोइ दयो उपदेश कृपा करि तुमने स्वामी ।
हौं तो भयो विमूढ़ मोह ममता अनुगामी ॥
केशव ! जो कछु कह्यो आपुने मेरे प्रति है ।
मानूँ ताकूँ सत्य अल्पमति मेरी अति है ॥
भगवन् ! तुमरो तत्त्व नहिँ, जानत दानव सुर तथा ।
सुर ह्वपि जब जानत नहिँ, फिरि पुरुषनिकी का कथा ॥

---

* हे केशव ! आप जो भी मुझसे कहते हैं, उस सबको मैं सत्य ही मानता हूँ। हे भगवन् ! देवता भी आपके व्यक्तित्व को नहीं जानते। फिर दानव कैसे जान सकते हैं ॥१४॥

हे भूतभावन विभो ! हे भूतो के स्वामिन् ! हे देवाधिदेव ! हे जगत् पते ! हे पुरुषोत्तम ! आप ही अपने आपको जनाते हैं (अन्य कोई नहीं) ॥१५॥

एक बार देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठर के महलों में पधारे। धर्मराज ने उनका विधिवत् स्वागत सत्कार किया। जब नारद जी पथ की थकान मिटा कर स्वस्थ चित्त होकर बैठ गये, तब धर्मराज ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! भगवान् तो समदर्शी हैं उनके लिये तो जैसे हो देव वैसे हो दैत्य फिर वे देवताओं का पक्ष लेकर असुरों का वध क्यों किया करते हैं? उनसे प्राकृत पुरुषों की भाँति द्वेष भाव क्यों रखते हैं?"

धर्मराज को ऐसी गम्भीर तथा मार्मिक शंका सुनकर देवर्षि नारद हँसने लगे और फिर उनसे हँसते हुए बोले—राजन्! आप सत्य कहते हैं। वास्तव में भगवान् के लिये न कोई प्रिय है न अप्रिय। उनका न कोई शत्रु है न मित्र सब के प्रति उनका समान भाव है। देखो, निन्दा स्तुति आदि ये सब शरीर के प्रति होते हैं, आत्मा तो निन्दा, स्तुति, सत्कार तथा तिरष्कार सबसे परे हैं। भगवान् तो सबका कल्याण ही करते हैं। उन्हें जो जिस भाव से भजता है, उसे उसी भाव से वे फल देते हैं, जो श्रद्धा, भक्ति, प्रेम भाव से, तथा सम्बन्ध से उन्हें भजते हैं, उनको उसी रूप से वे फल देते हैं। जो उन्हें शत्रु भाव से भजते हैं, उन्हें मारकर मुक्ति देते हैं। उनके सम्मुख कैसे भी कोई आ जाय, किसी भाव से भी उनका स्मरण करे, मुक्ति वे अपने शत्रुओं को भी देते हैं और राजन्! जैसी तन्मयता वैर करने से होती है वैसी तन्मयता भक्ति करने से भी नहीं होती। अब देखो, प्रह्लाद जी ने अनन्य भक्ति करके प्रभु का प्रसाद प्राप्त किया, किन्तु उसके पिता हिरण्यकशिपु ने तो भगवान् से घोर शत्रुता करके, उनके हाथ से मरकर भी सुदुर्लभ पद मुक्ति को प्राप्त कर लिया। यह कहकर नारद जी ने धर्मराज के पूछने पर पूरा प्रह्लाद चरित्र सुना दिया। प्रह्लाद जी की अनन्य भक्ति का

बड़ा ही सजीव वर्णन किया।

इस पर धर्मराज ने पश्चात्ताप प्रकट करते हुए कहा—"भगवन्! महाभाग प्रह्लाद जी ही बड़े भारी भाग्यशाली है, जिन्हें नृसिंह भगवान् की ऐसी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो गयी। वे ही भाग्यवान् हैं। हम तो अभागे हैं जो उन परात्पर प्रभु की कृपा का कुछ भी अंश प्राप्त न कर सके।"

इस पर नारद जी ने प्रेम में विह्वल होकर गद्गद वाणी में कहा—"धर्मराज! आप अपने सम्बन्ध में कुछ न कहें। आप कितने भारी भाग्यशाली हैं, संसार में इसका अनुमान कोई लगा ही नहीं सकता। आप तो संसार में सबसे श्रेष्ठ भाग्यशाली हैं, क्योंकि तुम्हारे घर में तो स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नराकृति धारण करके गुप्त रूप से निवास करते हैं।"

धर्मराज ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"भगवन्! मेरे घर में मनुष्य का रूप बनाकर परब्रह्म निवास करते हैं, मुझ हतभागी को तो आज तक उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ नहीं।"

नारदजी ने कहा—"अच्छा, यह बताओ कि जो इतने भारी ऋषि मुनि ज्ञानी ध्यानी महात्मा पुरुष जो नित्य ही तुम्हारे घर का चक्कर लगाया करते हैं। हम जो बार-बार दौड़-दौड़कर हस्तिनापुर में आते रहते हैं, इसका क्या कारण है?"

धर्मराज ने कहा—"भगवन्! यह तो सन्त महात्माओं आप जैसे ऋषि महर्षियों की मुझ क्षुद्र दास पर अहैतुकी कृपा है जो मुझ दीनहीन मतिमलीन पर कृपा करते रहते हैं, मुझे अपनी सेवा का सुयोग प्रदान करते रहते हैं, आप लोग मुझ गृहस्थ धर्म में फँसे मतिमन्द पर अनुग्रह करने मुझे आर्शीवाद प्रदान

करने को इतना कष्ट करते हैं।"

नारद जी ने कहा—"राजन ! यह तो है ही, किन्तु इतनी ही बात नहीं हैं। उनका भी अपना स्वार्थ रहता है। यहाँ आकर आपके घर में गूढ़ रूप से छिपे हुए मनुष्य वेष बनाये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का उन्हें दर्शन हो जाता है। उनके दर्शनों के लोभ मे ही ये झुन्ड के झुन्ड देवर्षि राजर्षि तथा महर्षिगण आपके घर के चारों ओर उसी प्रकार मँडराते रहते हैं, जैसे खिले हुए कमलों के मधु के लोभ के कारण उसके चारों ओर मधुकर मँडराते रहते हैं।

धर्मराज ने कहा—"तो प्रभो ! मुझे उनके दर्शन क्यों नहीं होते ?"

नारद जी ने कहा—"राजन ! उनके दर्शन सब किसी को नहीं होते। बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, योगी, यती, संन्यासी, ब्रह्मचारी, मनस्वी तपस्वीगण निरन्तर जिन्हें ढूंढते रहते हैं, किन्तु माया के लेश से रहित परम शांत परमानन्दानुभव स्वरूप परब्रह्म को पा नहीं सकते। वे आपके यज्ञ में पैर धोने का काम करते हैं, जूठी पत्तलें उठाते हैं। दास की भांति तुम्हारे पीछे-पीछे घूमते हैं, तुमसे आज्ञा प्राप्त करने को हाथ जोड़े नीचे कन्धा झुकाये विनीति भाव से तुम्हारे सम्मुख खड़े रहते हैं।"

धर्मराज ने आश्चर्य के साथ कहा—"मुझे तो उस परब्रह्म परमात्मा के दर्शन हुए नहीं। हुए भी होंगे, तो मैं मायाबद्ध जीव उन्हें पहिचान न सका हूँगा ?"

नारद जी ने कहा—राजन् ! जिसने योगमाया के परदे से अपना मुख छिपा रखा है, अथवा जो बहुरूपिया नाना प्रकार के दूसरे-दूसरे रूप रख कर तुम्हारे सामने आता है, उस बहुरूपिये को आप पहिचान भी कैसे सकते हो ?

धर्मराज ने पूछा—ऐसा बहुरूपिया कौन है, वह कौन-कौन से रूपों को रख कर राज सभा में आता है।

नारद जी ने कहा—वह श्याम रंग का बहुरूपिया है। वह कभी तो तुम्हारा प्यारा बन जाता है, कभी हितैषी बनकर सम्मुख आता है और तुम्हारे हित की चिन्ता करता रहता है। कभी तुम्हारे मामा वासुदेव जी का पुत्र बनकर आपके पैर छूता है। कभी आप सबके सम्मुख उसकी पूजा करने लगते हो और सिंहासन पर बिठाकर उसके चरणों को प्रक्षालन करने लगते हो, तो वह अपने चरणों को निर्भीक होकर धुलाने लगता है। सहर्ष तुम्हारी पूजा को स्वीकार करता है। कभी जब आप उसे डाँट कर आज्ञा देते हो, तो मस्तक झुकाकर बड़ी श्रद्धा से आपकी आज्ञा का तत्परता के साथ पालन करने लगता है। जब कभी आप उससे किसी बात की सम्मति लेने लगते हो तो, वह गुरु की भाँति-आचार्य की भाँति-आप को यथार्थ सम्मति भी देता है। वे परब्रह्म परमात्मा और कोई नहीं हैं, ये आपके भाई अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण ही हैं।

धर्मराज युधिष्ठर ने पूछा—क्या श्री कृष्ण परब्रह्म हैं? ईश्वर है?

नारद जी ने कहा—"ईश्वर ही नहीं, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। शंकर, ब्रह्मा, इन्द्रादि लोकपाल भी अपनी सम्पूर्ण बुद्धि लगाकर इनके न यथार्थ रूप को जान सकते हैं और न इनकी महिमा का वर्णन ही कर सकते हैं। फिर हम जैसे लोगों की तो बात ही क्या है। हम किस खेत की बथुआ हैं। हम लोग तो केवल मौन होकर भक्ति भाव और संयम के सहित उनकी पूजा ही कर सकते हैं। राजन्! आज परब्रह्म परमात्मा को तुमने प्रसन्न कर रखा है, वह तुम्हारे अधीन हो गया है। तुम उनके

हमारी शिफारिस कर दो। उनसे कह दो कि वे भक्त वत्सल भगवान् हम पर प्रसन्न हो जायें।"

महाराज धर्मराज युधिष्ठिर को जब यह ज्ञात हुआ कि श्री कृष्ण स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। वे प्रेम विह्वल होकर मन ही मन भगवान् श्री कृष्ण की पूजा करने लगे, व ध्यान मग्न होकर उनके स्वरूप का चिन्तन करने लगे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने अर्जुन से कहा—अर्जुन ! तुम्हें मेरे कथन में मेरी महत्ती महिमा के सम्बन्ध में कुछ अत्युक्ति दिखायी पड़ती है क्या ?" इस पर अर्जुन कहने लगे—"नहीं, भगवन् ! आप मुझसे जो भी कुछ कह रहे हैं, उसे सोलहू आने सत्य मानता हूँ। रुपये के सौ पैसों में से एक पैसा भी मुझे अविश्वास नहीं है। आप तो केशव हैं अर्थात् क, अ, ईश ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र इन तीनों शक्तियों से सम्पन्न हैं। सर्वज्ञ हैं, सर्वान्तर्यामी हैं आप ने जो यह कहा कि मेरे प्रभाव को मनुष्यों की तो बात ही क्या देव गण तथा ऋषि महर्षि गण भी नहीं जानते, सो यह बात सर्वथा सत्य है। इस पर मैं पूर्ण विश्वास करता हूँ। क्योंकि आप संसार में जितने भी ऐश्वर्य हैं, धर्म का जो सार भौम समग्र रूप है संसार में जितने प्रकार के यश है भाँति-भाँति की जो समग्र श्री अथवा शोभा है, विश्व ब्रह्माण्ड का जो समग्र ज्ञान है तथा जितना भी समस्त वैराग्य इन सभी से आप युक्त है। इन सब का नाम भग है, इसीलिये आप भगवान् कहलाते हैं। कोई कितना भी ज्ञानवान् क्यों न हो, वह भले ही देवता हो दानव हो ऋषि महर्षि कोई भी क्यों न हो आपके समग्र प्रभाव को भली भाँति जान ही नहीं सकता।

तब आप पूछेंगे, कि जब ये कोई नहीं जानते, तो कोई भी

तो मेरे प्रभाव को जानता होगा ? तो इसका उत्तर यही है कि आपके प्रभाव को आप ही स्वयं जानने में भले ही समर्थ हों। इसलिये आप पुरुष नहीं पुरुषोत्तम है। सब पुरुषों में श्रेष्ठ हैं प्रकृति से तो आप परे हैं हो पुरुष से भी परे हैं या पुरुष से-नर से-भी उत्तम नारायण पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम होने के साथ आप भूत भावन भी हैं।

जितने भी भूत हैं, उन सब के उत्पन्न करने वाले पिता हैं। जो भूतों से निर्मित पुरुष हैं वे भला आप पुरुषोत्तम को पूर्ण रोत्या कैसे पहिचान सकते हैं, क्योंकि आप भूतो के जनक हैं, पिता, हैं पालक, उत्पादक तथा पैदा करने वाले हैं। भूत भावन होने के साथ ही आप भूतेश भी हैं। अर्थात् पैदा करके छोड़ देते हो सो भी बात नही।

आप इन सब भूतों के अपने नियन्तृण में रखते हैं। आप उत्पादक होने के साथ हो साथ सर्वभूत नियन्ता भी हैं इसलिये भूतेश पुरुषोत्तम हैं। भूतेश होते हुए भी देव देव हैं।

संसार में सबके स्वामी होते हैं जैसे नरों के स्वामी नर देव, राजा पृथ्वी के स्वामी, ब्राह्मण भूदेव। देवताओं के स्वामी सुरेश किन्तु संसार भर में जितने भी देव है स्वामी हैं उन सबके आप देव हैं सबके स्वामी है इसोलिये आप देव देव पुरुषोत्तम हैं। देव देव होने के साथ आप सम्पूर्ण जगत् के पति अर्थात् जगत्पति भी हैं।

आपको ही इस बात का ज्ञान है, कि कौन से कार्य से जगत् का हित होगा और कौन से कार्य से जगत् का अहित होगा। ज्ञान स्वरूप जो वेद हैं उसके प्रणयन कर्ता भी आप ही हैं। इस जगत् को आप पहिले उत्पन्न करते हो और फिर उत्पन्न किये हुए का पालन भी आप ही करते हो और जब इच्छा

होती है, तब जगत् का संहार भी आप ही कर देते हो। स्वामी उसी को कहते हैं, जो अपनी वस्तु का इच्छानुसार उपयोग कर सके। उसे कोई रोकने टोकने वाला उससे श्रेष्ठ उसके सिर पर न हो। इस चराचर जगत् के आप एकमात्र सच्चे सम्राट हो। कोई भी आपके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसलिये आप पुरुषोत्तम होने के साथ हो साथ जगत् पति हैं। इस प्रकार आप ही सबके जनक हैं, सबके पूजनीय गुरु-आचार्य हैं और सबके राजा हैं। अतः आपकी विभूतियों के सम्बन्ध में प्रश्न करें भी तो किससे करें आपके अतिरिक्त कोई आपकी विभूतियों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखता होता, तो हम उसी के समीप जाकर प्रश्न करते, उसी से जानकारी प्राप्त करते, किन्तु अपनी विभूतियों के एकमात्र ज्ञाता आपही हैं। आपही अपनी विभूतियों से सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त किये हुए है अतः आप से ही प्रश्न करने से कार्य सिद्धि हो सकता है।

भगवान् ने कहा—अच्छा, तुम मेरी विभूतियों के सम्बन्ध में क्या-क्या जानकारी करना चाहते हो, इस बात को स्पष्ट—खुला-सा करो। जो तुम मुझसे पूछोगे उसे मैं तुम्हें बताऊंगा।

सूतजी कहते हैं–मुनियो। भगवान् की विभूतियों के सम्बन्ध में अर्जुन और भी जो स्पष्टता से पूछेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कैसे जाने तुम्हें मनुज तो क्रोधी कामी।
तुम हो गुनतें रहित जगतपति सब जग स्वामी॥
जानें नहिँ सुर असुर भोग में लिप्त रहत नित।
तुम देवनि के देव भूतभावन भूतनिपति॥
हे पुरुषोत्तम! जगत्पति, सदा सर्वदा तुम रहत।
जानत अपने आपकूँ, स्वयं प्रकाशित नित रहत॥

विभूतियोग के सम्बन्ध में प्रश्न (३)

[८]

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥*

(श्री भा० गी० १० अ० १६, १७, १८ श्लो०)

छप्पय

कैसे जगकूँ व्याप्त करौ निवसत सब थल में ।
कहँ कहँ कैसो रूप धारि निवसो थल जल में ॥
हे स्वामी ! तुम सकल विभूतिनि के ही द्वारा ।
जाने जाओ देव ! करो जग को उद्धारा ॥
दिव्य विभूतिनि को प्रभो, मोतें अब बरनन करो ।
का बनि कहँ कहँ बसत हो, मेरी यह संका हरो ॥

---

* हे प्रभो ! अपनी उन दिव्य विभूतियों को केवल आप ही सम्पूर्णता से कहने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों से इन सभी लोकों को व्याप्त करके आप स्थित हैं ॥१६॥

भगवान् के समस्त सद्गुणों को, भगवान् के महान् प्रभाव को, भगवान् के यथार्थ तत्त्व को उनके परम रहस्य को वेद, शास्त्र ऋषि मुनि कोई भी पूर्णता के साथ जान नहीं सकता। जब कोई जान ही नहीं सकता तो ऐसे विचित्र विषय के प्रश्न करना व्यर्थ ही है ? भले ही कोई न जान सकता हो, फिर भी मनुष्य प्रश्न किये बिना रह नहीं सकता। आज तक आकाश का किसी ने अन्त नहीं पाया, फिर भी वायुयान द्वारा, यहाँ तक कि पक्षी अपने पखों के ही द्वारा आकाश का पार पाने को उड़ते हैं और जिसकी जितनी शक्ति होती है, उतने ऊपर तक उडते हैं। वेद भी जिसका पार नहीं पा सकते, उन्होने भी जिसका वर्णन 'नेति-नेति' कहकर ही किया है उसके सम्बन्ध में शिष्य गण अपने गुरुओं से प्रश्न करते ही आ रहे हैं और आगे भी प्रश्न करते ही रहेंगे। यद्यपि उनकी समग्र महिमा को योग और विभूतियों को वे ऋषि महर्षि समग्रता के साथ जानते नहीं, भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई पूर्णरीत्या जानने में समर्थ भी नहीं। फिर भी शिष्यगण उनसे प्रश्न पूछते हैं, यदि भाग्य वश किसी को गुरु रूप में स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही मिल जायँ, तो फिर शिष्य उनसे तो उनकी समस्त विभूतियों की जानकारी प्राप्त करना ही चाहेगा। इसीलिये अर्जुन बार-बार भगवत् विभूतियों के सम्बन्ध में प्रश्न

हे योगेश्वर! मैं किस भाँति आपका ही चिंतन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! मेरे द्वारा किस-किस भावों में आप चिंतन करने योग्य हैं ॥१७॥

हे जनार्दन ! आप अपनी योगशक्ति और पुनः विभूति को भी विस्तार से कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनो को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥१८॥

करते हैं। सातवें और नवमें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन कर दिया था, किन्तु इतने से ही अर्जुन की तृप्ति नहीं हुई। वह फिरसे भगवान् की विभूतियों के सम्बन्ध में जानने को समुत्सुक हो उठा।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन से अपने प्रश्नों को खुलासा करने को कहा, तब अपने प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए अर्जुन कहने लगे—"भगवन्! जिन-जिन विभूतियों से आप इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित है, उन विभूतियों का वर्णन करें।"

भगवान् ने कहा— उनका वर्णन तो भैया, मै प्रसंगवश कई बार कर चुका हूँ।"

अर्जुन ने कहा—आपने कहीं-कहीं प्रसंगानुसार वर्णन किया अवश्य है, किन्तु वह वर्णन संक्षेप में किया है मै उन्ही को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ अतः अब उनका वर्णन पूर्णतया करें। और लोगों के लिए पूर्णतया वर्णन करना असंभव है, इसलिये मैं आप से ही इसके लिये अत्यंत आग्रह कर रहा हूँ।

भगवान् ने कहा—तुम किस अभिप्राय से पूछ रहे हो?

अर्जुन ने कहा—मै इस अभिप्राय से पूछ रहा हूँ कि आपने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि तुम सदा सर्वदा मेरा ही चिन्तन किया करो। आप की आज्ञानुसार यदि मै सर्वदा आपका चिन्तन करूँ, तो आप को किस भाँति जान सकूँगा। प्रथम तो मुझे अपनी जानने की विधि बताइये। संसार में पदार्थ तो बहुत है। उन सब जड़ चेतन, चर अचर पदार्थों में से किनका चिन्तन मुझे करना चाहिये। आप निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्ति सम्पन्न हैं। स्थूल बुद्धि देवादि के लिये भी आपका जानना अशक्य है ऐसे आप को हे "भगवन्! किन-किन भावों में चिन्तन करूँ।"

भगवान् ने कहा—तो तुम क्या केवल मेरी विभूतियों को ही जानना चाहते हो ?

अर्जुन ने कहा—संक्षेप में तो आपने अपनी विभूतियों का वर्णन कई बार किया है, किन्तु मैं उन्हें फिर से विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूँ और विभूतियों के साथ हो आपके योग के सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ। आप सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं तथा अतिशय ऐश्वर्य से युक्त है। "आप की विभूति किन में प्रकाशित होती है। इसका कृपा करके विस्तार पूर्वक वर्णन करें।"

भगवान् ने कहा—एक ही प्रश्न को बार-बार क्यों पूछ रहे हो ? इनसे तुम्हारी तृप्ति क्यों नहीं होती ?

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! भला, अमृत पान से किसी की तृप्ति होती है। इन संसारी पदार्थों में ही देखिये। नित्य उन्हीं पदार्थों को खाते हैं, उन रसों का आस्वादन करते हैं। उसी जल को नित्य पीते हैं, स्त्री पुरुष प्रसंग नित्य ही करते हैं, जब इन संसारी विषयों के नित्य भोग से ही तृप्ति नहीं होती, तो आपके वचन तो अमृतमय हैं। उनसे भला तृप्ति कैसे हो सकती है। आप के मुखकमल से निसृत वचनामृत का जितना ही पान करता हूँ, उतनी ही मेरी अभिलाषा उसके पान करने की ओर बढ़ती है। अतः यद्यपि आप पहिले इन विषयों को सुना चुके हैं फिर भी मुझे विस्तार के साथ सुनाइये।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने बार-बार फिर से भगवान् के योग तथा विभूति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो कृपा के सागर भगवन् श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को डाँटा फटकारा नहीं। बड़ी प्रसन्नता के साथ बड़े उल्लास के साथ वे अपनी दिव्य विभूतियों के सम्बन्ध में कहने को उद्यत हो गये। अब भगवान्

अर्जुन से जैसे अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करेंगे। उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

योगेश्वर हैं आपु योग के प्रथम प्रवर्तक।
साधन जगके सकल सबनिके करता कारक॥
कैसे चिन्तन करूँ सतत कैसे यह जानूँ।
बनि विभूति तुम रहत जगत में कैसे मानूँ॥
किन-किन भावनि तैं प्रभो! कैसे हौं चिन्तन करूँ।
भगवन! तुमरी भक्ति लहि, किनि भावनि हिय में धरूँ॥

(०)

वैसे तुमने योग-शक्ति हे प्रभो! बताई।
निज विभूति हू नाथ! आपुने कहूँ जताई॥
किन्तु जनार्दन! आपु तनिक विस्तार बतावें।
योग विभूति बताइ मोइ फिरि तैं समुझावें॥
बार-बार मैंने सुनी, तृप्ति न होवै नाथ मम।
उत्कंठा उर में बढ़ति, शान्त करो हे नरोत्तम॥

भवगत् विभूतियाँ (१)

[६]

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

हँसि बोले भगवान—सुनो, अरजुन मम बानी।
कुरुकुल में तुम श्रेष्ठ वीरवर योद्धा ज्ञानी॥
मेरी विशद विभूति तिनहिं ऋषि मुनि नित गावें।
शेष शारदा थकें वेदहू पार न पावें॥
कछु प्रधान तोतें कहूँ, नहिं विभूति मम अन्त है।
मैं अनन्त तातें जगत, सबरो शोभावन्त है॥

---

* हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छी बात है, अब मैं तेरे प्रति अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से ही कहता हूँ। विस्तार करूँ तो मेरी विभूतियों का अन्त नहीं ॥१९॥

हे गुडाकेश ! सर्वभूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं ही हूँ। सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥२०॥

जो यह समझते हैं, कि यह जगत् ऐसे ही स्वभावानुसार बिना लगाम के घोड़े की भाँति इच्छानुसार दौड रहा है। ऐसा समझने वाले अज्ञ हैं। यह संसार बड़े सूव्यवस्थित ढंग से चल रहा है। इसकी मर्यादा ऐसो वँधी हुई है, कि इसे विचलित करने की किसी में सामर्थ्य ही नहीं। यह ऐसा परिपूर्ण सुव्यवस्थित मर्यादित नाटक है, कि इसके सूत्रधार ने सभी अभिनय भिन्न-भिन्न सुयोग्य पात्रों को वाँट रखे हैं। वे पात्र ऐसे सिखाये पढ़ाये तथा दीक्षित हैं, कि अपने-अपने कामों में तनिक भी त्रुटि नहीं करते। सृष्टि करके सबको स्वतत्र छोड़ नहीं दिया है, कि जिसके जो मन में आवे वो सो ही करने लगे। एक के ऊपर एक अधिकारी बना दिये हैं। समय का सुव्यवस्थित विभाग कर दिया गया है। उन विभागों के संचालक, अध्यक्ष, पदाधिकारी सब नियुक्त कर दिये गये हैं। किस प्रधान-अधिकारी के नीचे के सहकारी अधिकारी हैं, इसकी व्यवस्था पहिले से ही है। एक सर्वनियन्ता सर्वश्रेष्ठ, सर्वान्तिर्यामी, सर्वाध्यक्ष अधिकारी है, उसका नाम अपनी-अपनी मान्यता तथा रुचि के अनुसार कुछ भी रखलो, क्योंकि वह नाम रूप से रहित है। कोई उसे महाशक्ति कहते हैं, महेश्वर, कोई महादित्य, कोई महाविघ्नहर तथा कोई उन्हें महाविष्णु के नाम से पुकारते हैं।

उन महाविष्णु की स्वास प्रश्वास विना प्रयत्न के स्वाभाविक चलती रहती है। वे यद्यपि कार्य करते से दीखते हैं, किन्तु वास्तव में वे कर्तृत्वाभिमान शून्य हैं। अतः उन्हें करते हुए भी कर्मों का बन्धन नहीं होता। उनके प्रत्येक स्वास में अनन्त ब्रह्मांड उनके उत्पादक, पालक और संहारक अनंत ब्रह्मा, विष्णु और महेश पैदा होते रहते हैं और प्रत्येक प्रश्वास में ये

सब विलीन होते रहते हैं। जैसे वे महाविष्णु भगवान् अनंत हैं वैसे ही उनके समस्त कार्य भी अनंत हैं। ब्रह्मांड भी अनन्त हैं उनके त्रिदेव भी अनन्त हैं। सभी ब्रह्मांड प्रायः एक से ही हैं। सभी का शासन प्रायः एक सा ही हो रहा है। जैसे एक बड़ी हांडी में बहुत से चावल पक रहे हैं, हमें यह जानना हो कि चावल पके या नहीं, तो प्रत्येक चावल को हंडी से निकाल कर उसे अँगुली अँगूठे से दवाकर नहीं देखा जाता। एक चावल की स्थिति समझ लेने पर शेष सभी चावलों की स्थिति का बोध हो जाता है। इसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड का ज्ञान होने पर सभी ब्रह्माण्डों का ज्ञान हो जाता है।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ब्रह्माजी ही बनाते हैं। विष्णु इसका पालन पोषण रक्षण करते हैं और अन्त में रुद्र इसका संहार करते हैं। पहिले सृष्टि करने में अकेले ब्रह्माजी ही प्रवृत्त हुए जब उन्होंने देखा अकेले से काम न चलेगा, तो ब्रह्माजी ने अपने सहायक रूप में सात महर्षियों की उत्पत्ति की इन सबको प्रजाओं का पति बनाया, इसलिये ये सप्त प्रजापति कहलाये। ब्रह्माजी ही सृष्टि करते हैं अतः इनका एक नाम "क" भी है। क शब्द ब्रह्माजी का भी बाचक है और प्रजापतियों का भी बाचक है। अतः मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये 'सप्त ब्रह्मा' भी कहलाते हैं। इन सातों के अध्यक्ष ब्रह्माजी हैं। जब सृष्टि हो गयी उसका कार्य चलने लगा, तब उस कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिये भगवान् प्रजापति ने सब वर्गों के व्यक्तियों में से श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष छाँटकर उन-उन वर्गों के अध्यक्ष या राजा बना दिये। जैसे समस्त प्रजापतियों का दक्ष को राजा बना दिया, ग्रह, नक्षत्र तथा तारों का राजा चन्द्रमा को बनाया। अङ्गिरसों का वृह-

स्पतिजी को, भृगुवंशियों का शुक्राचार्य को, आदित्यों का विष्णु को, वसुओं का पावक को, दैत्यों का प्रह्लाद जी को, मरुतों का इन्द्र को, साध्यों का नारायण को समस्त रुद्रों का शंकर को, जलचर जीवों का तथा जल का वरुण को, यक्ष राक्षसों का कुबेर को भूत प्रेत पिशाचों का शूलपाणि रुद्र को, नदियों का समुन्द्र को, गन्धर्वों का चित्ररथ को घोड़ों का उच्चैश्रवा को, समस्त पशुओं का सिंह को, चतुष्पादों का सांड़को, पक्षियों का गरुड को, सर्प विच्छू आदि का शेषनाग को, नागों का साधारण सर्पों का वासुकी को, पर्वतों का हिमालय को, दानवों का विप्रचित्ति को, पितरों का वैवस्वत को, सागरों का तथा नदी मेघों का पर्यजन्य को, अप्सराओं का कामदेव को, ऋतु, मास, पक्ष दिनादि का संवत्सर को, वैवस्वत मनु को समस्त मनुष्यों का राजा बनाया। फिर मनु के पुत्र और उनके भी पुत्र पौत्र इस समस्त वसुन्धरा के राजा हुए।

इसी प्रकार महाप्रलय, कल्प, वत्सर, मास, पक्ष, दिन, मुहूर्त, कला काष्ठा आदि काल के विभाग किये। एक कल्प के संचालन के लिये मनु के पुत्र, कल्प के देवगण, इन्द्र, सप्तर्षि तथा एक मन्वन्तरावतार ये ६ नियुक्त किये। एक कल्प तक ये ६ शासन करते हैं। कल्प के बदलने पर ये ६ भी बदल जाते हैं।

जगत् के संचालन के लिये धर्म तथा अधर्म दोनों को ही उत्पन्न किया। सत्ययुग में धर्म की लोगों में स्वाभाविक रुचि रहती है। कलियुग में अधर्म में स्वाभाविक रुचि रहती है। इस पर लोग पूछते हैं, कि जब कलियुग में अधर्म का ही प्रचार होना है। तो लोग धर्म-धर्म क्यों चिल्लाते हैं, "उन्हें तो युगानुसार अधर्म का ही प्रचार करना चाहिये।" इसका उत्तर यही है, अधर्म का तो

कलियुग में स्वाभाविक ही प्रसार हो जाता है उसके प्रचार की आवश्यकता नहीं। जब तक घोर कलियुग न आ जायगा तब तक शुद्ध सत्ययुग आ ही नहीं सकता। सत्ययुग लाने को घोर कलियुग का सर्वत्र अधर्म का पसार अत्यावश्यक है। किन्तु जैसे किसी भारी पत्थर को नीचे गिराने के लिये सब लोग जिधर गिरेगा उसी ओर नहीं लग जाते। कुछ लोग गिराने का संतुलन ठीक रखने के लिये कि एक साथ ही गिरकर किसी के ऊपर न गिर जाय कुछ लोग उसे विपरीत दिशा में खींचते रहते हैं, जिससे शनैः शनैः गिरे, इसी लिये भगवान् कलियुग में भी कुछ लोगों को धर्म प्रचार के लिये नियुक्त कर देते है जिससे संतुलित रूप से कलियुग का अन्त हो। वे धर्म प्रचारक भगवान् की विभूति ही है। भगवान् की आज्ञा से ही वे समय-समय पर प्रकटित होकर लोगों को धर्म का पथ दिखाते हैं। अधर्म की एक साथ बढ़ी हुई बाढ़ को रोकते हैं। वेग से बढ़ते हुए अधर्म की कुछ काल के लिये रोक थाम करते है। भगवत् विभूतियों द्वारा ही, बल, पुरुषार्थ, क्रिया, पराक्रम, आदि प्रदर्शित होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने बार-बार भगवान् से अपनी दिव्य विभूतियों का विस्तार के साथ वर्णन करने का आग्रह किया, तब भगवान् ने प्रसन्नता पूर्वक कहा—ठीक है, अच्छी बात है, जैसी तुम्हारी इच्छा है वैसा ही मैं करूँगा। तुमने जो मेरी अपनी दिव्य विभूतियों के सम्बन्ध में वर्णन करने को कहा है, मैं उनका वर्णन करूँगा। किन्तु सब विभूतियों का वर्णन नहीं कर सकता। जो प्रधान-प्रधान हैं, उन्हीं दिव्य विभूतियों में से कुछ का वर्णन करूँगा।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! मैं तो सब विभूतियों का वर्णन

सुनना चाहता हूँ। आप संक्षेप में प्रधान-प्रधान दिव्य विभूतियों का ही वर्णन क्यों करना चाहते हैं?"

भगवान् ने कहा—हे कुरुकुल मे श्रेष्ट पुरुष! तुम समझ बूझकर भी ऐसी बातें कर रहे हो। देखो, जिससे जिस वस्तु की उत्पत्ति है, वह उसी के गुण वाली होती है। जैसे मिट्टी से जितने भी वर्तन बनगे सब मृणमय ही होंगे। अतः मुझ अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर की विभूतियाँ भी अनन्त ही होंगी। जब कोई मेरी महिमा का ही अन्त नहीं पा सकता तब मेरी विभूतियों का कोई अन्त कैसे पा सकता है? मेरी विभूतियों के विस्तार का तो कहीं अन्त है ही नही, फिर महान विस्तार कर ही कैसे सकता है। सक्षेप में अपनी दिव्य मुख्य- मुख्य विभूतियों को बतलाता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"अच्छी बात है प्रधान-प्रधान का ही वर्णन कीजिये।"

भगवान् ने कहा—देखो, तुमने निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली है। तमोगुण को उत्पन्न करने वाली यह निद्रा ही है। जिसने भूख को, निद्रा को अपने वश में कर लिया है, वह सच्चा साधक है। वह दिव्य उपदेश ग्रहण करने का अधिकारी है। अनाधिकारी इस दिव्य ज्ञान को कभी ग्रहण हो नहीं कर सकता। अतः सुनो, समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित जो आत्मा है, वह आत्मा मेरी ही विभूति है। आत्म सत्ता से मैं ही सब भूतों के हृदय में अवस्थित हूँ। "चेतना" रूप से मैं ही सबका जीवन दाता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—जब आप ही जीवन दाता हैं। तो फिर प्राणी मरते क्यों हैं, आप तो अविनाशी अजर-अमर हैं।

भगवान् ने कहा—"देखो, आत्मा तो कभी मरता नहीं। घर के नष्ट हो जाने से ही घर वाला नष्ट नहीं होता। जिसने घर बनाया है, वह उसकी रक्षा करता है, लीपता पोतता है स्वच्छता रखता है। आवश्यकता होने पर जीर्ण होने पर या अन्य किसी कारण से वही उसका अन्त भी कर देता है। इसी प्रकार मैं ही भूतों का आदि ब्रह्मा हूँ। भूतों का पालक मध्य में रहने वाला विष्णु हूँ और सबका अन्त करने वाला अन्तक काल स्वरूप रुद्र हूँ। मैं ही सबका आदि, मध्य और अन्त हूँ। तुम ध्यान करने के निमित्त ही तो मेरी विभूतियों के सम्बन्ध में पूछ रहे हो न ? इसलिये जब किसी चेतन वर्ग की उत्पत्ति होती मेरा ही ध्यान करो, जब किसी की सुदृढ़ स्थिति देखो, तब भी उसमें मेरा ही ध्यान करो और जब किसी का अन्त देखो उसका विनाश होते देखो तब भी मेरा ही ध्यान करो। मैं उत्पत्ति कारक हूँ, सब का पालन कर्ता हूँ और दुःख रूपी मृत्यु को देने वाला भी मैं ही हूँ। जितने उत्पादक वर्ग है सभी मेरी विभूति हैं। जितने भी पालन करने वाले हैं मेरी विभूति हैं। जितने संहर्ता है विश्वब्रह्माण्ड के नाश में सहायक हैं, सभी मेरी विभूति हैं। माता पिता मेरी विभूति हैं। राजा, पालक, अन्नदाता, विद्यादाता मेरी विभूति हैं। काल, यम, मृत्यु सब मेरी ही विभूति हैं। इन सब में तुम मेरा ध्यान करो।"

अर्जुन ने कहा—आपने सब भूतों में स्थित अपनी विभूतियाँ तो बता दीं। अब आदित्य, ज्योति, मरुत्, नक्षत्र, वेद, देव, इन्द्रिय और चेतना में आपकी विभूति का ध्यान कैसे करें, यह बताइये ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इन प्रश्नों का जो भगवान् ने उत्तर दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा आप सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

मेरे बिनु जग नाहिँ जगत को बीज कहाऊँ।
मैं सदैव ही रहूँ नहीं कहुँ जाऊँ आऊँ॥
अरजुन ! तू है गुडाकेश निद्रा हू जीती।
मैं जानूँ सब बात होहिँगी ह्वै रहिँ बीती॥
सब भूतनि हिय आतमा, बनिकें हौं निवसत सतत।
आदि मध्य अरु अन्त हौं, सब भूतनि में हौं बसत॥

भगवत् विभूतियाँ (२)

[१०]

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

बारह जो आदित्य अदिति के पुत्र कहावें।
तिनि सबमें हौं विष्णु सोइ प्रानी सब ध्यावें ॥
ज्योतिनि में हौं सूर्य सुनहरी किरननिवारो।
उनंचास जो मरुत सोइ मारीचि विचारो ॥
सत्ताइस नछत्र हैं, असुनी भरनी आदि जो।
तिनि सब में हौं चन्द्रमा, है विभूति मम पार्थ सो ॥

---

* बारह आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योति वालों में अंशुमान् सूर्य भी मैं ही हूँ, वायुओं में मरीचि वायु और नक्षत्रों में शशि मैं ही हूँ ॥२१॥
मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में वासव–इन्द्र–हूँ। इन्द्रियों में मैं मन हूँ और प्राणियों में जो चेतना है, वह भी मैं ही हूँ ॥२२॥

पुराणों का जब हम अध्ययन करते हैं, तब उन सबमें सर्वप्रथम सृष्टि का ही वर्णन मिलता है। पुराण किसे कहते हैं, इसका उत्तर देते हुए कहा है पुराण के दश लक्षण है—जिनमें इन दश बातों का वर्णन हो उसे पुराण कहते है। ये दश बातें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय हैं। सब शास्त्रों का एक मात्र लक्ष्य आश्रय या मुक्ति ही है। मुक्ति का तात्पर्य यथार्थ रूप में निश्चय करने के ही निमित्त सर्ग, विसर्गादि नौ लक्षणों का वर्णन है।

बार-बार सृष्टि का वर्णन करने से क्या अभिप्राय है ? सृष्टि का ही विशद् वर्णन सम्पूर्ण शास्त्र क्यों करते है ? इसलिये करते हैं, कि इन्द्रियों के गोलक तो बाहर की ही ओर होते है. वह बाहरी वस्तुओं को ही देखने की क्षमता रखती है। जो इन्द्रायातीत तत्त्व है उसे इन्द्रियों द्वारा कैसे देखा जा सकता है, अतः इन्द्रियों द्वारा जो स्थूल पदार्थ देखे जा सकते हैं, पहिले उन्ही में भगवत् बुद्धि करो। उनमें भगवत् बुद्धि करते-करते इन्द्रियातीत तक–बुद्धि से भी जो परे तत्त्व है उस तक–पहुँच जाओगे।

जब पहिले ही पहिल भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया, तो सर्वप्रथम उन्होंने सब प्राणियों के अन्तःकरण में अवस्थित आत्मा का ही वर्णन किया।

इस पर अर्जुन ने कहा—"प्रभो ! आत्मा तो इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नही होती। मन के सहित समस्त इन्द्रियाँ जिस आत्मा को बिना ही देखे लौट आती हैं, ऐसी आत्मा आपकी विभूति अवश्य होगी, किन्तु उसे देखना, हम जैसे अज्ञों के लिये कठिन है, अतः आप अपनी ऐसी दिव्य विभूतियों का वर्णन करें, जिनको हम देखकर उनका ध्यान कर सकें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने वाह्य ध्यान करने

के निमित्त आदित्य, ज्योति आदि में अपनी विभूति बताने की प्रार्थना की तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन! देखो, यह दृश्य चराचर सृष्टि भगवान् ब्रह्माजी के मानस पुत्र भगवान् कश्यप से ही हुई है। कश्यपजी की अदिति, दिति, दनु, काष्टा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि ये १३ पत्नियाँ थीं। इन्हीं से भिन्न-भिन्न जाति के जीव उत्पन्न हुए। उनकी सबसे बड़ी पत्नी अदिति थी, जिनसे धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु या वामन ये बारह पुत्र हुए। यद्यपि वामन या विष्णु सबसे छोटे थे। इन्द्र के पद में भी छोटे होने से उपेन्द्र कहाते हैं। इन्द्र के सहायक है। इतना सब होने पर भी समस्त अदिति के पुत्र आदित्यों में विष्णु अथवा वामन ही मेरी मुख्य विभूति हैं। वे ही सब आदित्यों में श्रेष्ठ हैं।"

अर्जुन ने पूछा—ज्योतिष्मान् जितने हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—सूर्य, चन्द्र, तारागण, नक्षत्र, विद्युत, अग्नि आदि जितने भी प्रकाश प्रदान करने वाले हैं, उनमें मरीचि माली सुनहरी किरणों वाले सूर्य मेरी विभूति हैं। सूर्यनारायण ही ध्यान करने योग्य हैं।

अर्जुन ने पूछा—ये जो उनंचास मरुद्गण हैं, इनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—मरुतों में मरीचि नाम का तेज है वह मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—जितने नक्षत्र हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—आकाश में जितने ग्रह, नक्षत्र तारागण आदि दिखायी देते हैं इनमें चन्द्रमा मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—ये जो चारों वेद हैं, इनमें आप की विभूति कौन है ?"

भगवान् ने कहा—वेद तो मेरी नि:श्वास से ही उत्पन्न हुए हैं। वेद तो सभी पावन हैं प्रधान हैं, फिर भी गान की मधुरता के कारण जो अत्यन्त रमणीय है, जिसमें बहुत ही दिव्य-दिव्य स्तुतियाँ हैं, जिनका सस्वर गान करने से हृदय प्रफुल्लित हो उठता है, ऐसा सामवेद समस्त वेदों में मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"देवताओं में आप की विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—"समस्त देवताओं के राजा देवेन्द्र हैं। ये वरुण, कुवेर, यमादि समस्त देवताओ के अधिपति हैं, इनके सिंहासन पर बैठे रहने पर समस्त देवगण, ऋषिगण तथा उपदेव गण इनकी खड़े होकर स्तुति करते हैं, इसी कारण करते हैं, कि ये मेरी विशिष्ट विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा – मन सहित जो ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, इनमें आपकी विभूति कौन हैं ?

भगवान् ने कहा—इन्द्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्त: इन्द्रिय अर्थात् अन्तःकरण। ये सभी इन्द्रयाँ बिना मन को प्रेरणा के कुछ भी नहीं कर सकतीं। चक्षु रूप को तभी देखने में समर्थ होती हैं, जब उनके साथ मन हो। इसी प्रकार सब इन्द्रियों को समझना चाहिये। अतः इन्द्रियों में मन मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—इन समस्त चेतन भूतों में आप की विभूति कौन है ?

भगवान् ने कहा—इन सभी चेतन प्राणियों में चेतना है, जीवन

है वह मेरी विभूति है। सम्पूर्ण प्राणधारियों में जो दुःख सुख का अनुभव कराने वाली बुद्धि की वृत्तिरूप चेतना है वही मेरी भूतों की चेतना सबकी सम्राज्ञी है। चेतना के बिना चैतन्यों का अस्तित्व ही नहीं।

अर्जुन ने पूछा—एकादश रुद्रों में आप को विभूति कौन है?

सूत जी कहते हैं—मुनियो और अन्य विभूतियों का वर्णन जैसे भगवान् ने किया है, उन सबको मै आगे कहूँगा।

छप्पय

ऋक, यजु, साम, अथर्व चारि ये वेद बताये।
हौं तिनि सब में साम वेदविद् श्रेष्ठ जताये॥
जितने हैं सब देव स्वरग के सकल निवासी।
तिनि सबमें हौं इन्द्र वज्रधारी अविनासी॥
दश इन्द्रिय जो देह में, तिनिमें मैं ही मन कह्यो।
भूतनि में बनि चेतना, मैं ही सब देहनि रह्यो॥

भगवत् विभूतियाँ (३)

[११]

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥⊛

(श्री भग० गी० १० अ० २३, २४, श्लोक)

छप्पय

त्र्यंबक, हर, बहुरूप, वृषाकपि अरु अपराजित ।
शम्भु, वृषाकपि, शर्व, कपरदी, कपली, रैवत ॥
ग्यारहवें मृग व्याध कह्यो रुद्रनि में शङ्कर ।
यक्ष राक्षसनि माहिँ धनेश हु हौं कुवेर वर ॥
आठ वसुनि में अगिनि हौं, संज्ञा मेरी ई कही ।
हौं सुमेरु परवतनि में, यह विभूति मेरी कही ॥

⊛ रुद्रों मे मैं शकर हूँ, यक्ष राक्षसों मे कुवेर, वसुओ मे पावक और शिखर वालो मे सुमेरु पर्वत मैं ही हूँ ।। ३।।

हे पार्थ ! पुरोहितों मे मुख्य पुरोहित वृहस्पति मुझे ही जानो । सेनापतियो मे स्कन्द और तलाबो मे सागर मैं ही हूँ ।।२४।।

बद्ध, मुक्त, मुमुक्षु और नित्य चार प्रकार के जीवों में नित्य जीव ही अधिकारी पद पर नियुक्त किये जाते हैं। इनमें से किसी की आयु ब्रह्मा की आयु के समान, किन्हीं की आयु ब्रह्मा जी से भी बड़ी तथा किन्हीं-किन्हीं की आयु, एक परार्ध, एक मन्वन्तर या कल्प की होती है। अधिकार से निवृत्त हो जाने पर ये नित्य जीव महर्लोक में या जन लोक में निवास करते हैं। इन अधिकारी जीवों का भी भूमि पर प्राकट्य होता है। जैसे वसिष्ठ जी हैं तो ब्रह्मा जी के पुत्र किन्तु फिर मित्रावरुण के वीर्य से पैदा हो गये। जब तक इनकी आयु की सीमा रहती है, तब तक ये अधिकारारूढ़ रहते हैं। यदि ये ज्ञानी हुए तो ब्रह्मा जी के साथ ये मुक्त हो जाते हैं। ज्ञानी न हुए तो इनका पुनः जन्म होता है। जैसे दक्ष यद्यपि प्रजापतियों के राजा थे, फिर भी शिव जी का अपमान करने के कारण नन्दीश्वर ने उन्हें शाप दे दिया—"दक्ष अज्ञानी ही रहे, यह मोक्ष ज्ञान से वंचित रहे, अतः पहिले तो दक्ष ब्राह्मण थे, फिर प्रचेताओं के द्वारा वार्क्षी में फिर से उत्पन्न हुए वहाँ इनका नाम दक्ष ही पड़ा।"

ये अधिकारारूढ़ नित्य पुरुषों का वास्तविक स्थान तो महर्लोक तथा जन, तप लोक है। जब ये अधिकारारूढ़ हो जाते हैं, तो अपने अधिकार के लोक में एक रूप से आ जाते हैं। जैसे स्वारोचिष मन्वन्तर में बृहस्पति जी सप्तर्षियों में थे, तो वे सप्तर्षि लोक में रहते थे। जब उस पद से हट गये, तो पुनः महर्लोक में चले गये। जब अङ्गिरा के पुत्र बनकर प्रकट हुए तो देवताओं के पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित होकर स्वर्ग में निवास करने लगे।

जब श्री रामचन्द्र जी रावण को मार कर अयोध्या पुरी में राज्य करने लगे, तब उनसे भेंट करने बहुत से ऋषि महर्षिगण पधारे। उनके नामों में वसिष्ठ जी का भी नाम है। वसिष्ठ जी

तो उनके पुरोहित हो थे, उन महर्षियों के साथ आने वाले वसिष्ठ जी सप्तर्षि लोक में रहने वाले वसिष्ठ जी होंगे। वसिष्ठ जी एक रूप से तो यहाँ रघुवंश के पुरोहित रूप में रहते होंगे, एक रूप से सप्तर्षि लोक में सप्तर्षि पद पर प्रतिष्ठित होंगे। ये अधिकारारूढ़ पुरुष एक प्रकार से भगवान् ही है, विष्णु का जो पालन रूप कार्य है उसमें योगदान देते हैं। अतः जो-जो भी नित्य जीव अधिकारारूढ़ हैं, वे सब भगवत् विभूति ही हैं। उनमें भी जो सर्वश्रेष्ठ हैं वे भगवान् की विशेष दिव्य विभूतियाँ हैं। यहाँ उन्हीं अपनी कुछ दिव्य विभूतियों का वर्णन भगवान् करते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने आगे की विभूतियों के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन! एकादश रुद्र हैं। जिनके नाम हर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली है। इन सब में शम्भु-शङ्कर-भोले नाथ इनके राजा हैं, अध्यक्ष हैं। ये मेरी विशेष दिव्य विभूति हैं। मेरी विभूतियों में ये ही शङ्कर ध्यान करने योग्य है।"

इस पर अर्जुन ने पूछा—यक्ष राक्षसों में आपकी विभूति कौन है?

भगवान् ने कहा—उत्तर दिशा में ही विशेष कर यक्ष राक्षसों का निवास है। ब्रह्माजी के दश मानसिक पुत्रों में से पुलह और पुलस्त्य जो गंडकी के तट पर उत्तराखंड में हिमालय पर निवास करते थे। इनमें से पुलस्त्य जी का विवाह कर्दम मुनि की पुत्री हविर्भू के साथ हुआ। हविर्भू के गर्भ से पुलस्त्य जी के विश्रवा नाम के परम तपस्वी ज्ञानी पुत्र हुए। महर्षि विश्रवा का विवाह भरद्वाज जी की पुत्री वर वर्णिनी से हुआ। वर वर्णिनी के गर्भ से विश्रवा जी के एक पीली आँखों वाला पुत्र हुआ, वह वैश्रवण कुबेर हुए। महर्षि विश्रवा की एक राक्षसी पत्नी भी थी।

राक्षसों से विश्रवा जी का घरेलू सम्बन्ध हो गया था, अतः उनकी राक्षसी उप पत्नी कैकसी से रावण कुंभकरणादि पुत्र हुए। तब तक ब्रह्माजी ने तीन ही दिशाओं में लोकपालों की नियुक्तियाँ की थी। चौथी उत्तर दिशा खाली थी, ब्रह्माजी उस दिशा में एक लोकपाल नियुक्त करने की बात सोच रहे थे, किन्तु उन्हें इस पद के अनुरूप कोई उत्तम पुरुष मिल नहीं रहा था। यक्ष राक्षस बहुत धनिक थे। धन का कोष भी ब्रह्माजी ने इसी दिशा में बनाया था। कुवेर जी ने बड़ी घोर तपस्या की। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी इनके सम्मुख प्रकट हो गये। इन्होंने विधिवत ब्रह्माजी की पूजा की। इनकी पूजा को शास्त्रीय विधि से स्वीकार करके ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगने को कहा।

तब इन्होंने हाथ जोड़कर विनती की—"प्रभो! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं, तो मुझे लोकपाल बना दीजिये।"

तब ब्रह्मा जी ने कहा—"मैं भी यही सोच रहा हूँ। उत्तर दिशा लोकपाल से रहित है। तुम यक्ष राक्षसों के अधिपति बन जाओ। तुम धनाधीश होगे। समस्त धन के तुम ही आधीश्वर समझे जाओगे। यक्ष राक्षसों के अधिपति होने के साथ तुम वित्तेश कहाओगे। तभी से कुवेरजी उत्तर दिशा के लोकपाल हो गये, ये यक्ष राक्षसों तथा सभी प्रकार के धनों के स्वामी हैं। ये मेरी दिव्य विभूति हैं। उत्तर दिशा में इन्हीं की पूजा करनी चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—अष्ट वसुओं में आपकी विभूति, कौन से वसु है?

भगवान् ने कहा—"धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल,

प्रत्यूष और प्रभास ये ही अष्ट वसु कहलाते हैं, इनमें अनल-अर्थात् पावक मेरी विभूति हैं। यही ध्यान करने योग्य हैं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! शिखर वाले पर्वतों में आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—देखो, पहाड़ तो बहुत हैं, हिमालय सबसे बड़ा पहाड़ है। यह पूरे भरत खंड में व्याप्त है, बहुत दूर तक यह समुद्र में भी है। समुद्र पार के जितने छोटे बड़े द्वीप हैं, सबमें हिमालय की ही शाखायें हैं। किन्तु हिमालय पृथ्वी तक ही सीमित है। सुमेरु पर्वत त्रिलोकी में व्याप्त है। इसकी आठों दिशाओं में आठों लोकपालों की आठ पुरियाँ हैं। बीच के शिखर पर स्वर्ग से भी ऊपर ब्रह्माजी की एक पुरी है, जहाँ ब्रह्माजी कभी-कभी आकर अपनी सभा लगाते हैं, यह सुमेरु पर्वत सर्व साधारण की दृष्टि से अगोचर है। पापी पुरुष इसका दर्शन नहीं कर सकता। यह त्रैलोक्य को घेरे हुए दिव्य सुवर्ण का पर्वत है, इसमें अमूल्य धन रत्नों का भंडार है। शिखर वालों में से यह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—पुरोहितों में आप की विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—जैसे देवताओं के स्वामी इन्द्र हैं वैसे ही पुरोहितों के स्वामी अध्यक्ष या राजा देव पुरोहित बृहस्पति जी हैं। ये बड़े ज्ञानी तथा नीति विद्या विशारद हैं। इनके भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों तथा कल्पों में भिन्न-भिन्न जन्म हुए हैं। ये पुरोहितों के अग्रणी होने के कारण मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—सेनापतियों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—पहिले देवताओं की सेना का कोई योग्य सेनापति नहीं था। सेना की जय पराजय सेनापति के ही ऊपर निर्भर करती है। योग्य सेनापति न होने से देवताओं की बार-बार पराजय होती थी, असुर आ आकर स्वर्ग पर अपना अधि-

एक बड़ी भारी नहर है, उसमें गंगाजी का अथाह जल निरन्तर बहता रहता है। उसी नहर में से सैकड़ों सहस्रों उपनहर बम्बा निकले हैं, उनमें से भी नालियाँ निकली हैं। वे नालियाँ खेतों में जाती हैं, खेतों में भी बहुत से बरहा बने हैं, उन बरहाओं द्वारा पानी खेत की क्यारियों में जाता है, उन क्यारियों में अन्न उपजता है। उसी अन्न को खाकर प्राणी जीते हैं। इसी प्रकार यह समस्त सृष्टि भगवान् से ही उत्पन्न होती है। यह सृष्टि प्रवाह नित्य है। इनमें से जो भगवत् विभूतियाँ निकलती हैं, वे भी भगवत् सदृश हैं। वे भी भगवान् ही कहलाते हैं। भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य ये दस ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। ये महान् हैं। जो अपरिमेय हों, जो सर्वत्र पंचभूतों के सदृश व्याप्त रहकर भी एक शरीर से प्रत्यक्ष सामने प्रकट हो जायँ वे ही महान् हैं। वास्तव में तो एकमात्र भगवान् ही महान् हैं। जो उन महत् पुरुष का एकमात्र अवलम्बन करते हैं वे ही महान्त कहलाते हैं। ऐसे महान्त ब्रह्म तक पहुँचे महर्षि कहलाते हैं। अर्थात् जो ऋषियों में भी महान् ऋषि हैं। वे महर्षि के नाम से पुकारे जाते हैं। महर्षि अनन्त हैं, जिनमें से ये दश प्रधान है, उन दशों में भी भृगुजी सर्व प्रधान हैं। भृगुवंश की ऐसी धाक रही है, कि इस वंश में उत्पन्न होने वाले अपने को सबसे अधिक गौरवशाली मानते रहे हैं। शुक्राचार्य जी भृगुवंशी ही थे, तभी तो शुक्राचार्य के यजमान दानवेन्द्र वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने भूल से शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी के जब वस्त्र पहिन लिये तब देवयानी ने क्रोध में भरकर कहा था—"जिन ब्राह्मणों ने अपने तपोबल से इस संसार की सृष्टि की है, जो परमपुरुष परमात्मा के मुख हैं, जो अपने हृदय में निरन्तर ज्योतिर्मय परमात्मा को धारण किये

रहते हैं। और जिन्होंने सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण के लिये वैदिक मर्यादा का निर्देश किया है, बड़े-बड़े लोकपाल तथा देवराज इन्द्र-ब्रह्मा आदि भी जिनके चरणों की वन्दना और सेवा करते हैं—और तो क्या, लक्ष्मीजी के एकमात्र आश्रय परमपावन विश्वात्मा भगवान् भी जिनकी वन्दना और स्तुति करते है, उन्हीं ब्राह्मणों में हम सबसे श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं। और इस शर्मिष्ठा का पिता पहिले तो असुर जाति का है, फिर हमारे पिताजी का शिष्य है। इस पर भी इस दुष्टा ने जैसे शूद्र वेद पढ़ ले वैसे ही हमारे कपड़ों को पहिन लिया है।"

देवयानी के इस कथन में ब्राह्मणों का कितना गौरव निहित है और ब्राह्मणों में भी भृगुवंशीय ब्राह्मणों का। भृगुजी बड़े ही निर्भीक तथा महान् तपस्वी थे। इन्होंने अपनी पुत्री "श्री" का विवाह भगवान् विष्णु के साथ किया था। इन्होंने ही श्रीविष्णु को पृथ्वी पर दशावतार लेने का शाप दिया था। इन्होंने ही भगवान् विष्णु के हृदय में लात मारी थी, जिसके चिह्न को "भृगुलता" के नाम से अब तक भगवान् विष्णु धारण करते हैं। अनेक मन्वन्तरों में ये सप्तर्षियों के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इनके वंशज बहुत से महर्षि गोत्र प्रवर्तक हुए हैं। इन्होंने ही अग्नि को सर्वभक्षी होने का शाप दिया था। इनके पुत्र च्यवन हुए। च्यवन के शुनक हुए और उनके पुत्र ही अठासी सहस्र ऊर्ध्वरेता ऋषियों के अग्रणी शौनक महर्षि हुए। अतः महर्षि भृगु समस्त महर्षियों में तथा भगवान् की दिव्य विभूतियों में से एक हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अपनी अग्रिम विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं—"अर्जुन महर्षियों में भृगु महर्षि मेरी विभूति हैं।"

अर्जुन ने—"पूछा—"प्रभो! शब्दों में कौन शब्द आपकी विभूति है।"

भगवान् ने कहा—"शब्द का अर्थ जिससे प्रकट हो उसे गिरा अर्थात् वाणी कहते हैं। उन सब शब्दा में जो एकाक्षर मन्त्र हैं, जिमे ओंकार अथवा प्रणव भी कहते हैं, जो सभी वेदों का सार है। प्राचीनकाल में एकमात्र ओंकार ही वेद था। उसी का विस्तार होकर ऋक् यजु, साम और अथर्व ये चार वेद बन गये। वेद रूपो वृक्ष का बीज प्रणव ही है। समस्त गिराओं में ओंकार मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—यज्ञों में कौन-सा यज्ञ आपकी विभूति है?

भगवान् ने कहा—"यज्ञ तो सभी श्रेष्ठ हैं। यज्ञ मेरा रूप ही है, अन्य यज्ञों में एक त्रुटि है, कि उन यज्ञो में किसी न किसी प्रकार से जीव हिंसा की सभावना रहती है। यज्ञीय संभार जुटाने में, उनकी विधियों को पूर्ण करने में हिंसा हो ही जाती है। यद्यपि शास्त्रीय वचन है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। यज्ञादि वैदिक कर्मों में जो आवश्यक हिंसा होती है, उसकी संज्ञा हिंसा नहीं है। उस हिंसा में विशेष दोष नहीं होता।" विशेष दोष भले ही न हो। फिर भी हिंसा तो हिंसा ही है। जिस यज्ञ में तनिक भी हिंसा न हो वह जप यज्ञ है। मन्त्रों का विधि विहित चाहे स्पष्ट उच्चारण करके, चाहें होठ हिलाकर उपांशु जप हो अथवा मानसिक जप हो ये जप उत्तरोत्तर एक से एक श्रेष्ठ माने गये हैं। जप करने से मन्त्रसिद्धि होती है। अर्थ की भावना करते हुए मन्त्र जप से परमसिद्धि प्राप्त होती है। ब्राह्मण और चाहे कुछ करे अथवा न करे वेदों की माता जो गायत्री है उसका जप जो निरंतर करता है, वह अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है। अतः जप यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ है, मेरी दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"जो चलते नहीं, अचल हैं, स्थिर हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—नहीं चलने वाले दो ही हैं, एक पर्वत दूसरे वृक्ष। पर्वतों के पहिले तो पंख हुआ करते थे, वे उडते थे। जिस नगर पर बैठ जाते थे, उस नगर को नष्ट कर देते थे। इससे प्रजाजनों को बडा कष्ट होता था। प्रजा के लोगों ने देवेन्द्र से प्रार्थना की। देवेन्द्र ने अपने वज्र से इन सबके पंख काट दिये। हिमालय का पुत्र मैनाक पंख कटने के भय से समुद्र में जा छिपा इसलिये उसके पंख बच गये। वह अभी तक समुद्र में छिपा हुआ है। अन्वेषकों ने अब सिद्ध कर दिया है, समुद्र के भीतर भी विशाल पर्वत हैं, ये सब पर्वत हिमालय के ही पुत्र है। पंख कट जाने से सभी पर्वत स्थिर रहने वाले स्थावर हो गये। उन सब स्थावर पर्वतों के राजा हिमालय हैं हिमालय मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"आपने पर्वत और वृक्ष दो को अचल-स्थावर, नग बताया। न गच्छतीति नग। जो चलें फिरें नही। तो स्थावरों में तो आप की विभूति हिमालय है और वृक्षों में आपका विभूति कौन है ?"

भगवान् ने कहा—समस्त वृक्षों में अश्वत्थ-पीपल-मेरी विभूति हैं। अश्वत्थ के मूल में विष्णु का निवास है, तने में केशव, शाखाओं में नारायण, पत्तों में हरि भगवान् और फलो में समस्त देवताओं के सहित अच्युत भगवान् निवास करते है। यह वृक्ष साक्षात् विष्णु स्वरूप है। महात्मा गण इसके मूल की सदा श्रद्धा से सेवा करते हैं। इसका आश्रय कामनाओं को देने वाला तथा गुणों की वृद्धि करने वाला है। प्राणियों के सहस्त्रों पापों का नाश

करने वाला है। यह वृक्ष वासुदेव वृक्ष मेरा स्वरूप ही है अतः वृक्षों में यह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"महर्षियों में तो भृगुजी आपकी विभूति हैं, देवर्षियों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—देवर्षियों में नारदजी मेरी विभूति हैं। यह ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, उनकी गोदी से उत्पन्न हुए हैं। यह ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारी त्यागी विरागी तथा गृही धर्म से विरत हैं। समस्त सद्विद्याओं के प्रवर्तक परम भगवत् भक्त और जीवों को भगवत् सम्मुख करने वाले हैं। इसी लिये मेरी दिव्य विभूतियों में से एक हैं।

अर्जुन ने पूछा—गन्धर्व जो उपदेव हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—"गन्धर्वों में चित्ररथ गन्धर्व जो समस्त गन्धर्वों का राजा है, वह मेरी विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—सिद्धों में आप की विभूति कौन है।

भगवान् ने कहा—जितने ये देव, सिद्ध गन्धर्व, किंनर, किंपुरुषादि देव उपदेव हैं। इनमें दो प्रकार के होते हैं। एक तो देव या उपदेव योनि वाले नित्य-देव। उनकी उत्पत्ति इसी योनि में होती है इसलिये ये उस जाति नित्य देव, नित्य पितर, नित्य गंधर्व या नित्य सिद्ध कहाते हैं। दूसरे मनुष्य योनि से पुण्य कर्म करके केवल भोग भोगने के लिये देव योनि में जाते हैं वे मर्त्य देव या उपदेव कहलाते हैं। जो नित्य सिद्ध हैं, उनमें कपिल मुनि मेरी दिव्य विभूति हैं। मेरे ज्ञान के वे अवतार ही हैं। ये ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्यादि सद्गुणों से सम्पन्न तथा सूक्ष्म तथा स्थूल सभी सिद्धियों के अधिपति हैं मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—घोड़ों में आपकी विभूति कौन हैं?

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! अब भगवान् जैसे अपनी अन्य विभूतियो का वर्णन करेंगे, उन्हें मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

जाकी जड़ में विष्णु सकल शाखनि नारायन।
नित केशव-इस्कन्ध रहें श्रीहरि सब पत्तनि॥
सब देवनि के सहित वसहिं फल में श्रीअच्युत।
वही वृक्ष अश्वत्थ रूप मम बसूँ सुरनियुत॥
हौं पीपर सब नगनि में, देवर्षिनि नारद मुनी।
गन्धर्वनि में चित्ररथ, सिद्धिनि में कपिलहु मुनी॥

भगवत् विभूतियाँ (५)

[१३]

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकि ॥*

(श्री भा० गी० १० अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

मन्थन करयो समुद्र अमृत हित रत्नहु निकसे ।
तिनिमें उच्चैश्रवा अश्व लखि सबई हरसे ॥
वे ही उच्चैश्रवा रूप तुम मेरो मानों ।
ऐरावत मम रूप सबहिँ हाथिनि में जानों ॥
जो भू को शासन करैं, चित्त रखें नित धरम में ।
रंजन परजा को करैं, राजा हूँ हौं नरनि में ॥

---

* घोडाओ मे अमृत से उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा घोड़ा मुझे ही जानो, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यो मे राजा मैं ही हूं ॥२७॥

मैं आयुधों मे वज्र हूं, धेनुओं मे कामधेनु, पैदा करने वालों में प्रजन कन्दर्प तथा सर्पों में वासुकि नाग मैं ही हूं ॥२८॥

इस संसार रूप समुद्र को भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरा मन्थन नहीं कर सकता। इस ससार में विष तथा अमृत दोनों ही मिले जुले हैं। विष को कोई पीना नहीं चाहता मनुष्य हो चाहें देव, विष से सब दूर ही रहना चाहते है, किन्तु जो देवाधिदेव महादेव हैं, वे लोक कल्याण के निमित्त परोपकार के लिये, दूसरो का दुःख दूर करने के लिये विष का भी पान कर लेते हैं। अमृत निकालने का जो प्रयत्न करते है, तो सर्वप्रथम विष ही निकलता है। विष के पश्चात् रत्न निकलते हैं, अमृत निकलता है। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि तुम चाहें अमृत निकालने का कितना ही उद्योग करो। अमृत उद्योग ने निकल आवेगा, किन्तु अमृत का पान करके अमर वही बन सकेगा जो एक मात्र भगवान् के ही आश्रय रहेगा। उद्योग आप चाहें जितना करो जब तक भगवान् की शरण न गहोगे, तब तक तुम्हारा उद्योग अहंकार को ही बढ़ाने वाला होगा।

वास्तव में भगवान् की कृपा के बिना कोई अमृत निकालने का उद्योग कर नहीं सकता। भगवत् कृपा के बिना साधन जुटा नहीं सकता। भगवान् के सहयोग के बिना कोई मंथन क्रिया कर नहीं सकता। भगवान् के सहयोग के बिना समस्त साधन जुट जाने पर भी मंथन कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। भगवान् ने जब बुद्धियोग दिया तभी देवता असुरों के समीप गये। एकता हुई अब मंथन की सामग्री जुटाई गयी। सामग्री भी भगवत् विभूति हों तभी काम चलेगा। रस्सी के स्थान पर भगवत् विभूति वासुकी नाग भगवत् कृपा से लाये गये। मथने वाली रई के स्थान पर भगवद् विभूति मन्दराचल लाये गये। जब देवता तथा असुर लाने में असमर्थ हो गये, तो भगवान् अपनी विभूति गरुड़ जी की पीठ पर ले आये। जब देवता

असुर मथने को उद्यत हुए तो वे मथ ही न सके। तब भगवान् उन सब देवता असुरों के शरीर में प्रविष्ट हो गये। अजित रूप रखकर उनके साथ मथने भी लगे। मन्दराचल नीचे पाताल में न चला जाय, इसलिये उसे कछुआ वन कर अपनी पीठ पर धारण किये रहे। पर्वत ऊपर न उड़ जाय, इसलिये एक रूप धारण करके उसके ऊपर बैठे रहे। अमृत के पश्चात् जो कामधेनु, उच्चैश्रवा, ऐरावत, कौस्तुभमणि, कल्पवृक्ष, अप्सरायें, पाँचजन्य, शार्ङ्गधनु, शंख, चन्द्रमा, लक्ष्मी, वारुणी तथा अमृत आदि रत्न निकले। ये सबके सब भगवान् की विभूति हैं। भगवान् जिसके लिये सम्मति दें, स्वयं साधन जुटावें, स्वयं पुरुषार्थ करके प्रयत्न करें, तो उनसे उनकी विभूतियाँ हो निकलेंगी। अमृत को लेकर भी वे स्वयं ही अपनी एक विभूति धन्वन्तरि के रूप से प्रकट हुए। असुर जब बल पूर्वक अमृत को छीन ले गये, तो अपनी एक विभूति मोहनी द्वारा ही उसकी रक्षा की और अपनी विभूति अपने शरणापन्न भक्त देवताओं को ही उसे पिला भी दिया। अतः भगवान् समस्त खेल अपनी विभूतियों के माध्यम से किया करते हैं। समुद्र के मथन स्वरूप जो चतुर्दश रत्न हुए वे सब की सब भगवान् का दिव्य विभूतियाँ ही हैं। समुद्र मथन में विष के पश्चात् कामधेनु गौ हुई फिर उच्चैःश्रवा घोड़ा वह भी भगवत् विभूति रूप में उत्पन्न हुआ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने घोड़ों में विभूति कौन है यह जिज्ञासा की, तो भगवान् कहने लगे—अर्जुन! अमृत मन्थन के अवसर पर विष के पश्चात् सर्व प्रथम तो कामधेनु गौएँ उत्पन्न हुईं। कामधेनु भी गौओं में मेरी दिव्य विभूति ही हैं। प्रत्येक शुभ कार्य में गौ दान किया जाता है,

अतः इन कामधेनु गौओं को ब्राह्मणों के अर्पण कर दिया गया। इसके पश्चात् चन्द्रमा के समान स्वच्छ शुभ्र वर्ण का उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा उत्पन्न हुआ। यह घोड़ा क्या है, मेरा ही स्वरूप है, मेरी ही दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"हाथियों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"समुद्र मन्थन के अवसर पर उच्चैःश्रवा के पश्चात् ऐरावत हाथी उत्पन्न हुआ। वह भी हिम के सदृश स्वच्छ शुभ्र वर्ण का था उसके चार बड़े-बड़े दाँत थे। वह ऐरावत भी मेरा ही रूप है। मेरा ही दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"मनुष्यों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—मनुष्यों में जो राजा है। शोभा तथा श्री सम्पन्न हैं। जो साधारण प्रजा को अपनी इच्छानुसार चला सकते हैं। अपने संकेत पर नचा सकते हैं। जो उनसे कर ले सकते हैं। प्रजाओं की दस्युओं से रक्षा कर सकते हैं। प्रजा के स्नेह भाजन बन सकते है। बहुमत जिनके पक्ष में हैं ऐसे विशिष्ट व्यक्ति मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—आयुधों में आप कौन हैं?

भगवान् ने कहा—आयुधों में तो मैं दधीचि मुनि की अस्थियों से निर्मित इन्द्र का वज्र हूँ। इससे श्रेष्ठ दूसरा कोई आयुध या अस्त्र नहीं है अतः यह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—धेनुओं में आप की विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—बता तो दिया। समुद्र मन्थन के समय समुद्र से निकली कामधेनु मेरी गौओं में दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—सन्तानोत्पत्ति में जो कारण हैं, उनमें आप की विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—धर्म से अवरुद्ध जो काम है, वही काम देव या कन्दर्प मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"सर्पों में आपको विभूति कौन हैं।"

भगवान् ने कहा—वही वासुकी नाग सर्पों में मेरी विभूति है, जिसे रस्सी बनाकर मन्दराचल को रई बनाकर समुद्र मथा गया था। समुद्र मन्थन मेरी विभूतियों के अतिरिक्त अन्य किसी से हो ही नहीं सकता।

अर्जुन ने पूछा—सर्पों में तो आप वासुकी हैं, किन्तु नागों में आपको विभूति कौन हैं ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आगे की भगवान् की विभूतियों का वर्णन मैं आगे के प्रकरण में करूँगा।

छप्पय

सब शस्त्रनि में वज्र विज्ञजन मोइ बतावें।
है अति ही दुरधरस नाकपति जाइ चलावें॥
सब धेनुनि में सुघर कामधुक् धेनु कहाऊँ।
सब प्रानिनि कूँ परम पुन्यप्रद पयहु पिवाऊँ॥
जग की उतपति के निमित, कामदेव मम रूप है।
हौं सरपनि में वासुकी, जो सब सरपनि भूप है॥

भगवत् विभूतियाँ (६)

[१४]

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० २९, ३० श्लोक)

छप्पय

सहस फननि तैं सतत प्रेमयुत मम गुन गावें।
सब नागनि तैं श्रेष्ठ शेष वे ई कहलावें॥
शेष हमारे रूप जिते जलचर जग माहीं।
तिनि सब में हीं वरुन रहूँ पच्छिम दिशि माहीं॥
सब पितरनि में अर्यमा, मेरो कह्यो स्वरूप है।
शासन करता हैं जगत, तिनि में मम यम रूप है॥

जिन शेष की सुंदर सुखद शैया पर श्याम सुंदर सदा सुख से

---

* मैं नागों में अनन्त नाम का नाग हूँ, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासन करने वालों में यम मैं ही हूँ ॥२९॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गणना करने वालों में काल, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ ॥३०॥

शयन करते हैं। वे शेष भगवान् से पृथक् नहीं। भगवत् स्वरूप हैं। उनकी महिमा का कहीं अन्त नहीं है, अतः वे अनन्त कहाते हैं। ये जगत् में प्रलय के अनन्तर जो कुछ अवशिष्ट रह जाते हैं, शेष बच जाते हैं वे ही ये विश्वरूप, देवरूप, नागराज, सहस्र फणों वाले भगवान् की तामसी मूर्ति शेषनाग जी हैं। ये समस्त नदी नद तथा पर्वत और वृक्षों सहित इस पृथ्वी को अपने सिर पर धारण किये रहते हैं। इतनी भारी पृथ्वी को तथा भूतों को धारण करने में इन्हें तनिक भी प्रयास नहीं होता, इन्हें बोझ भी प्रतीत नहीं होता, ऐसा लगता है, मानों मेरे सिर पर कोई सरसों का दाना रखा हो। ये भगवान् के अभिन्न रूप ही है, उनकी मूर्ति ही हैं, फिर भी ये भगवान् के अनन्य भक्त हैं। अपने सहस्र मुखों से, दो सहस्र जिह्वाओं से निरन्तर भगवान् के नामों का ही उच्चारण करते रहते हैं। ये नामानुरागियों में सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् की सेवा में सदा सर्वदा तत्पर रहते हैं। जब भगवान् क्षीरसागर में शयन करते हैं, तब ये शेषजी शैया बनकर उनकी सेवा करते हैं। जब भगवान् भवन में निवास करते है, तो ये शेष जी भवन बन जाते हैं। जब भगवान् विराजमान होते हैं तो उनके नीचे शेषासन के रूप में आसन बनकर परिचर्या करते हैं। जब भगवान् पधारते हैं, तो ये ही शेष भगवान् चरण पादुका का रूप धारण कर लेते है। भगवान् की सेवा के लिये वस्त्र, बिछौना तकिया सब कुछ बन जाते हैं। जब भगवान् सिंहासनारूढ़ होते है, तो शेषजी आतपत्र छत्र बनकर भगवान् के श्रीअंग की छाया करते हैं। वसुदेवजी जब भगवान् को आधी रात्रि में वर्षा के समय गोकुल लेजा रहे थे, तब इन शेषजी ने ही छत्र बनकर उनकी वर्षा से रक्षा की। ये भगवान् के अभिन्न रूप है, इसीलिये इनकी शेष संज्ञा है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन ! सर्पों की ही एक जाति नाग होती है। ये बिना कहे किसी को काटते नहीं। उन नागों के राजा सहस्र फण वाले शेष नाग हैं, वे अनन्त नाग मेरी विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"जलचर जीवों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—समस्त जलचरों के राजा लोकपाल वरुण हैं, ये पश्चिम दिशा के लोकपाल हैं और मेरे अनन्य भक्त हैं, अतः मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"पितरों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—"पितर दो प्रकार के होते हैं। एक साग्निक दूसरे निरग्निक कुछ पितृगण नित्य होते हैं, जैसे कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्। इन सब पितरों के राजा अर्यमा हैं, अतः पितरों में ये मेरी दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"धर्म तथा अधर्म का निर्णय करने वालों में तथा निग्रह और अनुग्रह करने वालों में आप कौन हैं। ऐसे न्याय-कर्त्ताओं में आपकी विभूति कौन है ?"

भगवान् ने कहा—देखो, प्राणी मात्र के धर्माधर्म का निर्णय करने वालों में यमराज जो सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दक्षिण दिशा के लोकपाल है। विवस्वान् सूर्य के पुत्र हैं तथा यमुनाजी के बड़े भाई हैं। ये ही यमराज है और ये ही धर्मराज भी कहलाते है। पापी तथा पुण्यात्मा अपनी भावना के अनुसार इनके सौम्य तथा रौद्र रूप का दर्शन करते है। पुण्यात्माओं को ये परमशान्त तथा सौम्य दिखायी देते हैं तथा पापियों को ये ही, अरुण नयन, भयंकर मूर्ति, क्रोध से दाँत कटकटाते बिजली की भाँति जिह्वा को लपलपाते हाथ में कालदण्ड लिये हुए दिखायी देते हैं। ये किसी के साथ पक्ष-

पात नहीं करते। न किसी से राग न द्वेष। धर्म की तराजू में तोल कर पाप पुण्य का फल देते हैं। इसी लिये वे मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"दैत्यों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—दैत्यों के राजा तो हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष थे, ये बड़े पापी तथा दुष्ट थे। अतः हिरण्याक्ष तो मैंने शूकरावतार रख कर और हिरण्यकशिपु को नृसिंहावतार धारण करके मार दिया। हिरण्यकशिपु के ह्लाद, संह्लाद, अनुह्लाद और प्रह्लाद ये चार पुत्र हुए, वैसे प्रह्लाद जो अवस्था में तो सबसे छोटे थे, किन्तु गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। हिरण्यकशिपु को मार कर मैंने प्रह्लादजी के सद्गुणों से तथा उनकी अहैतुकी भक्ति से रीझकर उन्हें ही समस्त दैत्य दानवों का राजा बना दिया था। अतः दैत्यों में वे ही मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"संसार में जितने गणना करने वाले गणक हैं, उनमें आप की विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—गणना करने वाले गणकों में मै काल हूँ। काल यमराज के मंत्री हैं। वे सभी प्राणियों की आयु का लेखा-जोखा रखते हैं। किसे कितने दिन तक जीना है, कब किसे मरना है, यह सब यमराज के महामंत्री की बही में लिखा रहता है। जिस समय जिस प्राणी के आयु के वर्षों की गणना पूरी हो जाती है, ये तुरन्त अपने सहकारी मंत्री मृत्यु को सूचना दे देते हैं। मृत्यु उस प्राणी को पकड़ कर यमराज के पास उपस्थित कर देता है। काल देव किसी का पक्षपात नहीं करते। इनकी गणना में त्रुटि-मात्र-पल भर की भी त्रुटि कभी नहीं रहती। अतः गणना करने वालों में ये कालदेव मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"पशुओं में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—जितने पशु है मृग हैं उनमें परम साहसी, तेजस्वी, बलवान् तथा दक्ष जो मृगराज सिंह है, वह मेरी विभूति हैं। इसीलिये जो पुरुषों में श्रेष्ठ होता है उसे पुरुष सिंह कहते हैं। मृगों का इन्द्र अर्थात् राजा होने से सिंह मृगेन्द्र कहलाता है, वह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"पक्षियो में आपकी विभूति कौन है ?"

भगवान् ने कहा—पक्षियों में विनतानंदन कश्यपजी के पुत्र गरुड जी मेरे परम प्रिय है। बालखिल्यो के तपोमय संकल्प से ये कश्यपत्नी विनता के गर्भ से उत्पन्न हुए। बालखिल्य तो इन्द्र के स्थान में दूसरा इन्द्र ही उत्पन्न करना चाहते थे, किन्तु ब्रह्माजी के कहने पर ये पक्षियों के इन्द्र खगेन्द्र हुए। इनकी सामर्थ्य अमित है। युद्ध में इन्होने मुझ विष्णु को भी सन्तुष्ट किया था। इसीलिये मैंने इन्हें ध्वजा में रखा। इसीलिये मेरा नाम गरुडध्वज है। जब इन्होंने मुझे युद्ध में सन्तुष्ट कर दिया, तो मैने इनसे वर माँगने को कहा।

तब इन्होने कहा—"मैं आप से पराजित थोड़े ही हुआ हूँ, मैं तो जीता हूँ अतः आप ही मुझसे वर माँगिये।"

तब मैंने इनसे अपना वाहन तथा मित्र बनने का वर माँगा। तभी से ये मेरे दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, चाँदनी वेदमय व्यजन बन गये। मैं इनकी पीठ पर चढ़ता हूँ। ये मुझसे अनन्य होने के कारण मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"संसार में जितने पावन बनाने वाले हैं, पवित्र करने वाले हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब भगवान् जैसे अपनी अग्रिम विभूतियों को कहेंगे, उनका वर्णन में आगे करूँगा।

छप्पय

मेरे जो अति भक्त मुकुटमनि असुर कुलनि में।
मम प्रह्लाद स्वरूप कह्यो सवई दैत्यानि में॥
जितने हैं जगगणक काल तिनिमें कहलाऊँ।
सवकी गणना करूँ सवनि परलोक पठाऊँ॥
वन के जितने जीव हैं, दिखूँ सिह मृगराज हूँ।
वैनतेय मम रूप है, सव पक्षिनि खगराज हूँ॥

भगवत् विभूतियाँ (७)

[१५]

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्याविद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥*

(श्री० भग० गी० १० अ० ३१, ३२ श्लो०)

छप्पय

अनिल अनल जल जगत माँहि पावन निरमल अति ।
तिनि सबमें हौं पवन करूँ पावन जग नित प्रति ॥
शूरवीर जो करैं शस्त्र धारन रच्छा हित ।
तिनि सबमें है राम रूप मेरो सुंदर अति ॥
जलमें जितनी मीन हैं, तिनिमें मैं ई मकर हूँ ।
नदियनि में भागीरथी, पाप हरन नित निरत हूँ ॥

---

* मैं पवित्र करने वालों मे पवन हूँ, शस्त्रधारियो में राम, मत्स्यों मे मकर और नदियों मे गङ्गा जी मैं ही हूँ ॥३१॥

हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूं, विद्याओं मे अध्याम विद्या और वाद विवाद मे वाद मैं ही हूं ॥३२॥

यह शरीर स्वभाव से ही अशुद्ध है। हड्डी को अशुद्ध माना है, उसी हड्डी के ढांचे के ऊपर यह शरीर निर्मित है। नस, नाड़ी आतें, मांस, रक्त, चर्म, नख, रोम, बाल ये सब के सब अशुद्ध है, ये ही सब शरीर के आधार हैं। मल, मूत्र ये महा अशुद्ध हैं, ये ही शरीर मे सदा भरे रहते हैं। शरीर के नव द्वारों से लाखों रोम कूपों से सदा मल ही निकलता रहता है। इस शरीर की अशुद्धि शास्त्रकारों ने मिट्टी, जल, अग्नि तथा वायु के द्वारा बतायी है। समय से भी पदार्थों की शुद्धि होती है। अन्न है, लकड़ी, हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेल, घृत, आदि रस, सुवर्ण, पारा आदि तेजस पदार्थ, चर्म की बनी वस्तुएँ तथा मिट्टी के बने वर्तन। इन सब की शुद्धि काल, वायु अग्नि, मिट्टी तथा जल से होती है। कुछ पदार्थ ऐसे होते है, कि समय पाकर अपने आप पवित्र बन जाते हैं। जैसे पृथ्वी को किसी ने मल मूत्र द्वारा अशुद्ध कर दिया। कुछ समय के पश्चात् वह वायु लगते-लगते अपने आप शुद्ध हो जायगी। कोई धातु का वर्तन है, वह अशुद्ध पदार्थों से, अस्पर्शों के स्पर्श से या अन्य किसी कारण से अशुद्ध हो गया, तो उसे अग्नि में तपा लो, शुद्ध हो जायगा। मिट्टी का कुल्लड़ है, किसी ने पानी पीकर उच्छिष्ट करके अशुद्ध कर दिया, उसे फिर से जल से धोकर अग्नि में पका लो पवित्र हो जायगा। कोई लोटा आदि धातु का पात्र है, उसे शौच को ले गये, तो मिट्टी से मलकर पानी से धोने से पवित्र हो जायगा। सुवर्ण तथा चाँदी के वर्तन हैं, उच्छिष्ट हो गये, तो उन्हें केवल जल से ही धो दो तो पवित्र हो जायेंगे। इस प्रकार बाहरी पदार्थों की शुद्धि में देश, काल, मिट्टी, जल, अग्नि तथा वायु ये कारण हैं। चित्त की शुद्धि के लिये स्नान, दान, तपस्यादि कारण हैं।

यद्यपि शुद्धि अनेक पदार्थों से होती हैं किन्तु पवित्र करने वालों में वायु की प्रधानता है। वाहरी पदार्थ वायु के लगे बिना शुद्ध नहीं होते। अन्तःकरण भी प्रणायाम के विना शुद्ध नहीं होता। प्राणायाम को सबसे श्रेष्ठ वल वताया गया है। समस्त संसार को वायु ही पवित्र कर रहे हैं। वायु ही जीवन प्रदान कर रहे हैं। शरीरों में प्राण रूप से वाहरी संसार में पवन अथवा वायु रूप से ये पदार्थों को पावन वना रहे हैं। अतः ये जीवनधारी भी हैं और परम पावन भी हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—"अर्जुन! संसार में जितने भी पवित्र करने वाले पदार्थ हैं, उन सब में वायु देव मैं ही हूँ, वे मेरी दिव्य पावन विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"शस्त्र धारियों में सर्व श्रेष्ठ शस्त्रधारी कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—शस्त्रधारियों में दशरथ नन्दन श्रीराम मैं ही हूँ। शस्त्रधारियों का जहाँ चिन्तन करना हो, वहाँ धनुप धारी श्री रामचन्द्र जी का ही चिन्तन करना चाहिये। राम रूप से मैंने ही तो राक्षसों का वध किया था। यद्यपि राम साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, फिर भी शस्त्रधारियों में मेरी परम दिव्य विभूति के रूप में भी हैं श्रीराम का वाण अमोघ है, वे न तो दो वात वोलते हैं और न शत्रु संहार के समय दूसरा वाण धनुप पर चढ़ाते हैं। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उनका वाण चढ़ता है, वह वाण उस उद्देश्य को पूर्ण करके ही लोटता है। इसीलिये जो वस्तु अव्यर्थ-अमोघ होती है। उसे राम वाण कहते है। जैसे अमुक औपधि उस रोग की राम वाण औपधि है। अर्थात् उस औपधि से वह रोग अवश्य चला ही जायगा।

श्रीराम का बाण अमोघ होने से वे समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"जलचर मछलियों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—जलचर मत्स्यों में मगर ही मेरा स्वरूप है। वही जलचर जीवो में सर्व श्रेष्ठ प्रभावशाली जीव है अतः मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"वेग से बहने वाली नदियों में आपकी विभूति कौन-सी नदी हैं ?"

भगवान् ने कहा—नदियों में गङ्गाजी मेरा स्वरूप है। स्वरूप क्या हैं मैं स्वय ही पिघल कर द्रव हो गया हूँ, अतः गङ्गाजी का एक नाम ब्रह्मद्रव भी है। शिवजी के मुख से अपनी महिमा का गान सुनकर मेरा हृदय ही द्रवित नही हुआ शरीर भी द्रवित हो गया। उसी ब्रह्मद्रव को ब्रह्माजी ने अपने दिव्य कमन्डलु में धारण किया। जब वामन रूप से ब्राह्माण्ड को नापते हुए मेरा चरण ब्रह्मलोक पहुँचा, तो उसी कमन्डलु के जल से उन्होंने मेरी पाद पूजा की। जिसे परम पवन मानकर शिवजी ने अपने सिर पर धारण किया। वे ही त्रैलोक्य को पावन करने वाली मेरी दिव्य विभूति श्री गङ्गाजी संसार की समस्त सरिताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"चेतन प्राणियों में तो जीवन आपकी विभूति हैं, अचेतनों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—समस्त सृष्टियों में जो अचेतन पदार्थ हैं, उनका आदि मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश रूप से मै ही अवस्थित हूँ। समस्त जड़ चेतन

सृष्टि का आदि मध्य अन्त रूप जो काल है वह मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—"जितनी विद्यायें हैं, उनमें कौन-सी विद्या आपका रूप है ?"

भगवान् ने कहा—लोक में विद्या तो बहुत सी बतायी जाती हैं, किन्तु जो मोक्ष की हेतु भूता अध्यात्म विद्या है, वही वास्तविक विद्या है। जो संसार सागर से सदा के लिये विमुक्त बना देने वाली विद्या है, वह यही अध्यात्म विद्या है। इसी के द्वारा मेरा साक्षात्कार हो सकता है, अज्ञान अंधकार का सदा के लिये नाश हो सकता है। अतः अध्यात्म विद्या ही मेरी विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"विवाद करने वालों से सम्बन्धित कथा भेदों में आपकी विभूति कौन है।"

भगवान् ने कहा—मनिषियों ने जल्प, वितण्डा और वाद ये तीन वाद विवाद करने वाले कथा भेद बताये है। शास्त्रार्थ करने वाले इन तीनों का आश्रय लेकर ही परस्पर में विवाद करते है।

जल्प तो उसे कहते हैं, कि अपने पक्ष का मन्डन करने के निमित्त तथा प्रतिवादी के पक्ष का खन्डन करने के निमित्त उचित अनुचित जो चाहें हथकन्डे अपनावें। हमने चाहे उचित या अनुचित जो भी पक्ष ले लिया है उसे युक्तियों तर्कों द्वारा सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न को जल्प कहते हैं।

वितन्डा उसे कहते हैं, कि अपना पक्ष भले ही सिद्ध न हो, किन्तु दूसरे के पक्ष का खन्डन हो जाय। यहाँ सत्य निर्णय उद्देश्य न होकर विपक्षी को कैसे भी परास्त करदे यही उद्देश्य रहता है। जल्प में तो स्वपक्ष समर्थन परपक्ष विध्वंसन द्वारा अपनी विजय की ही चेष्टा होती है। छल, जाति, निग्रह स्थान

द्वारा पर पक्ष को दूपित करते हैं। छल तो उसे कहते हैं, कि किसी वाक्य का पद में प्रयोग तो दूसरे अभिप्राय से किया गया है, किन्तु उसका कोई युक्तियों द्वारा विलक्षण अर्थ करके प्रतिपक्ष के अर्थ में दोप सिद्ध करना अर्थ का अनर्थ कर डालना।

जाति उसे कहते हैं—कि अपने पास भी जिस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नही है, प्रति पक्षी से ऐसी बात पूछकर उसे निरुत्तर कर देना।

निग्रह स्थान वह कहलाता है, जो वादी के पराजय का कारण हो। इसके प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञसंन्यासादि अनेक भेद हैं। वितन्डा और जल्प दोनों में ही ये सब हथकन्डे बरते जाते हैं।

वाद उसे कहते हैं, जिसमें शुद्ध भावना से तत्वनिर्णय के उद्देश्य से शास्त्रीय वचनों से बिना छल कपट के कथोपकथन या प्रश्नोत्तर किये जाते हैं। यह कथोपकथन या प्रश्नोत्तर अपनी विजय के उद्देश्य से या दूसरे को पराजित करने के उद्देश्य से नहीं होता। यथार्थ तत्व क्या है इसका निर्णय ही इस कथोपकथन का एकमात्र उद्देश्य होता है। ऐसे प्रश्नोत्तर तत्व जिज्ञासु वीतराग दो सहपाठियों में अथवा गुरु शिष्य में ही होते है। एक अपनी शंका को प्रकट करता है; दूसरा उसका युक्तियुक्त प्रमाण और तर्कों द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनयन और निगमन इन पांच अवयवों द्वारा उसका उत्तर देता है। अन्त में जो कुछ शंका रह जाती है उसका भी समाधान करते हैं। इस प्रकार उत्तर प्रत्युत्तरों द्वारा जो तत्व निर्णय होता है। उसी का नाम 'वाद' है। विवाद करने वालों से सम्बन्धित कथा भेदों में 'वाद' ही मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"समस्त अक्षरों में आपकी विभूति कौन-सा अक्षर है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! आगे की विभूतियों का वर्णन भगवान् जो करेंगे उन्हें मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जब–जब जग की सृष्टि होहि हौं आदि कहाऊँ।
होवे पालन जबहिँ मध्य तबई कहलाऊँ॥
प्रलय काल जब होहि अन्त मेरो स्वरूप है।
आदि अन्त मम रूप जगत तो अन्ध-कूप है॥
विद्या हौं अध्यात्म हूँ, सब विद्यनि में मुकुटमनि।
सबई वाद-विवाद में, तत्ववाद तू मोइ गनि॥

भगवत् विभूतियाँ (८)

[१६]

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३३, ३४ श्लो०)

छप्पय

जितने अक्षर कहे जगत में जो क्षर नाहीं ।
अक्षर एक अकार समुझि तिनि सबके माहीं ॥
प्रकरन एक समास कह्यो व्याकरन माहिँ जो ।
सब समास मैं द्वन्द रूप मेरो ही शुभ सो ॥
हौं ही अक्षय काल हूँ, महाकाल मोकूँ कहत ।
धाता मेरो रूप है, जाके मुख सब दिशि रहत ॥

---

* अक्षरो मे मैं अकार हूँ, समासो में द्वन्द समास, क्षयशील कालों में अक्षयकाल तथा कर्मफल दाताओं मे सब ओर मुख वाला धाता मैं ही हूँ ॥३३॥

मैं संहारकर्ताओ मे सर्वहर मृत्यु हूँ, भावी कल्याणों में उत्कर्ष तथा स्त्रियों मे, कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं ही हूँ ॥३४॥

वाणी द्वारा जो शब्द व्यक्त किये जाते हैं, उन सब में अकार को ही प्रधानता है। वर्ण दो प्रकार के होते हैं, स्वर और व्यंजन। व्यंजन सब हलन्त होते हैं। जैसे 'क्' क का उच्चारण हम तभी कर सकेंगे जब इसमें अकारादि स्वर संयुक्त हो। क् में 'अ' संयुक्त करो तब 'क' होगा। इस प्रकार स्वरों के बिना व्यंजनों का उच्चारण नहीं होता। अब स्वरों में सर्व प्रथम "अकार" है। इसी अकार की प्रधानता समस्त स्वरों में है। जैसे अकार को दुगुना कर दो तो, अ+अ=आ हो जायगा। 'अ' में छोटी ि की मात्रा लगा दो 'अि' बन जायगी 'अ' में बड़ी ई की मात्रा लगा दो तो "अी" बन जायगी। अ में उ की मात्रा लगा दो "अु" बन जायगा। इसी प्रकार सभी स्वरों में समझ लेना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ। अकार से रहित किसी स्वर का उच्चारण नहीं है और स्वर बिना किसी व्यंजन का उच्चारण नहीं। अर्थात् स्वर और व्यंजनों में अकार ही व्याप्त है। वह अकार क्या है। एकाक्षर कोप में "अकारो वासुदेवश्च" अकार का अर्थ है भगवान् वासुदेव। जैसे समस्त भूतों में भगवान् व्याप्त हैं, उसी प्रकार समस्त अक्षरों में अकार व्याप्त हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी विभूतियों का आगे वर्णन करते हुए भगवान् कह रहे है—"अर्जुन! मै समस्त अक्षरों में अकार हूँ। अक्षरों में "अकार" मेरी दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"समासों में आप कौन से समास हैं?"

भगवान् ने कहा—समास शब्द का अर्थ है, 'संक्षेप'। लंबे अनेकों वाक्यों को संक्षेप में मिला कर कहने का नाम समास है। व्याकरण के अनुसार समास पांच प्रकार के होते हैं। १—अव्ययी भाव समास, २—तत्पुरुष समास, ३—बहुव्रीहि समास, ४—द्वन्द समास और ५—कर्मधारय समास। कर्म धारय का एक भेद है

द्विगु। स्वयं कर्मधारय समास भी तत्पुरुष का भेद ही है। यदि कर्मधारय और द्विगु को तत्पुरुष के अन्तर्गत मान लें तो समास चार ही प्रकार के होते हैं।

१—पहिला समास है अव्ययी भाव—जैसे अधि हरि शब्द है। यहाँ अधि' अव्यय है हरि शब्द है। हरि के सम्मुख अधि-लाये। समास करके अधिहरि हो गया। इसका अर्थ हुआ "हरि में' अधि और हरि पूर्व पद और उत्तर पद दो हैं, तो अव्ययी भाव समास में प्रायः पूर्वपद के अर्थ की ही प्रधानता होती है। बिना समास के हरौ होता। किन्तु अधिहरि में अधि की प्राधान्यता है।

दूसरा समास है—तत्पुरुष—तत्पुरुष समास के दो पदों में से उत्तर पद की ही प्रायः प्रधानता होती हैं। जैसे 'लक्ष्मीपति' इसमें लक्ष्मी और पति दो शब्द हैं, किन्तु प्रधानता पति की होगी, अर्थात् लक्ष्मी के पति विष्णु।

३—तीसरा समास है बहुब्रीहि—जैसे पीताम्बर इसमें पीत का और अर्थ है अम्बर का और अर्थ है, दोनों मिलाकर किसी तीसरे का ही बोध कराता है। इसमें पूर्व पद उत्तर पद इन दोनों पदों मे से किसी को प्रधानता नहीं है। दोनों से पृथक् अन्य श्री कृष्ण की प्रधानता है।

चौथा समास है कर्मधारय और कर्मधारय का एक भेद है द्विगु। ये दोनों तत्पुरुष समास के ही अन्तर्गत हैं। इसमें भी प्रायः उत्तर पद की प्रधानता होती है।

पाँचवा द्वन्द्व समास है—जैसे राम कृष्ण। इसमें दो पद है दोनों की ही प्रधानता है। द्वन्द्व समास में जितने भी पद होंगे वे न तो अपने अर्थ को खोवेंगे और न अपने नाम को। सब पदों का अपने अर्थ का अपना पृथक् अस्तित्व रहेगा। स्वरूपतः भले ही शब्द न

भी रहे किन्तु जो सब शेष रहेगा वही उसके अर्थ को कहता रहेगा।

इस प्रकार एक द्वन्द्व समास ही ऐसा समास है जो और-और करके सब का समाहार करके सब के अर्थ को स्पष्ट रखता है। अतः समस्त समासों में द्वन्द्व समास मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"गणना करने वालों में तो आप काल हैं, किन्तु जिसके द्वारा काल की गणना की जाती है, उनमें आपका स्वरूप क्या है?"

भगवान् ने कहा—पल, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, दिव्य-वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प पूर्वार्ध परार्ध, तथा ब्रह्माजी की आयु ये सब समय की गणना करने वाले कहलाते हैं, ये सब क्षय होने वाले समय वाचक काल हैं।

दूसरा काल प्राकृतिक काल है, प्रकृति जब तक महाप्रलय के अनन्तर साम्यवस्था में रहती है वह प्रकृतिका काल है। यह भी क्षय होने वाला काल है। इनसे परे जो नित्य, शाश्वत, काल है जिसका नाम "अः" भी है जो विज्ञानानन्द धन परमेश्वर है, वह अक्षय काल मेरा ही स्वरूप है। मैं ही काल रूप से नित्य रहता हूँ, मेरा कभी क्षय नहीं होता। अतः क्षयशील समस्त कालों में अक्षय काल मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"कर्म फल देने वालों में आप की विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—जिसका सभी ओर मुख है। जितने मुख हैं, सब जिसके मुख हैं। जो सब ओर से सबकी समस्त क्रियाओं को देखने में समर्थ है, ऐसा विधाता-ईश्वर-मे कर्म फल देने वाले यमराज आदि सबसे श्रेष्ठ धाता हूँ। विराटरूप से मैं ही सबके कर्मफलो को देता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"सबका नाश करने वालों में आपका रूप कौन-सा है ?"

भगवान् ने कहा—"सर्वहरों में मृत्यु मेरा ही रूप है। दुःख देने वाला मृत्यु मेरी ही दिव्य विभूति है। किसी कल्प में मृत्यु स्त्री रूप में काय करती है, किसी कल्प में मृत्यु को पुरुष रूप में बताया है। पहिले प्राणी मरते नहीं थे। सृष्टि बढ़ाने के चक्कर मे ब्रह्माजी जीवों के मारने की व्यवस्था ही न कर सके। जब मानसिक सृष्टि न रहकर मैथुनी सृष्टि होने लगी और सृष्टि आवश्यकता स अधिक बढ़ने लगी। तब ब्रह्माजी को सृष्टि में सतुलन रखने के लिये जीवों को मारने की भी आवश्यकता प्रतीत होन लगी। वे इस चिंता में थे, कि कोई योग्य व्यक्ति मिल जाय, तो उसे इस कार्य के लिये नियुक्त करूं। उन्हीं दिनों मृत्यु शर्मा नाम के ब्राह्मण घोर तपस्या कर रहे थे, ब्रह्माजी उसकी घोर तपस्या से प्रसन्न होकर उसके समीप गये और कहा—"भद्र ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न होकर मैंने तुम्हें उप-लोकपाल का पद प्रदान किया है।"

मृत्यु शर्मा ने पूछा—"मुझे किस लोकपाल का सहकारी रहना पड़ेगा ? कौन-सा कार्य करना पड़ेगा ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"दक्षिण दिशा के यमराज के अधीन तुम्हें रहना पड़ेगा। प्राणियों को मारमार कर काल की अनुमति से लाना पड़ेगा।"

मृत्यु ने कहा—"प्रभो ! यह कठिन कार्य मुझसे न होगा। सभी मुझे कोसेंगे बुरा भला कहेंगे। मैं तो तपस्या ही करूँगा।" यह कहकर वह पुनः तपस्या करने लगा। ब्रह्माजी तीन बार उनके पास आये और पदग्रहण का आग्रह करने लगे। तीसरी बार ब्राह्मण रोने लगा। उसके अश्रुओं को ब्रह्माजी ने अपनी अंजलि

में ले लिया। जिनसे असंख्यों रोगों की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी ने कहा—तुम्हें कोई बुरा भला न कहेगा, सभी इन रोगों को कोसेंगे, कि अमुक रोग से मर गया। तुम्हें कोई बुरा न कहेगा। उस दिन से मृत्यु सबको मार कर लाने लगे, किन्तु दोष सभी लोग रोगों को ही देते हैं। अमुक रोग न होता तो वे मरते नहीं। वास्तव में तो सबको मारने वाले मृत्यु ही हैं और वे मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भावी उत्कर्षों में आप का स्वरूप कौन-सा है।"

भगवान् कहा—उद्भवों में उत्पत्ति स्थान अर्थात् उत्पत्ति मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—"स्त्रियों में आपकी विभूति कौन-कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—स्त्रियों में कीर्ति, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा की अधिष्ठातृ देवी मेरी ही दिव्य विभूतियाँ हैं।

कीर्ति उसका नाम है—जिसकी सत्कर्म करने से सर्वत्र प्रशंसा होती है, सभी दिशाओं में जिसके शुभ कर्मों की प्रशंसा होने से ख्याति हो जाती है। ऐसे विख्यात पुरुष ही कीर्तिवान् कहलाते हैं। कीर्ति भी एक मेरी विभूति है।

'श्री' शोभा का नाम है। भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पुरुषों की श्री भी भिन्न-भिन्न होती है। धर्म, अर्थ, काम की पूर्ति, शरीर की शोभा कान्ति का नाम भी श्री है। उनके मुख मण्डल पर श्री झलक रही है। अमुक स्थान में बड़ी श्री आ गयी है। वे व्यक्ति बड़े श्रीसम्पन्न हैं। ब्राह्मणों में यह श्री ब्राह्मीश्री कहलाती है। राजाओं में यही श्री राज्यश्री क्षात्रश्री के नाम से प्रसिद्ध है वैश्यों में यही श्री लक्ष्मी के रूप में कही जाती है। शूद्रों में यही श्री सेवा रूप से प्रकट होती है। यह श्री भृगु की पुत्री और विष्णु पत्नी है।

वाक् की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती है। ये विद्या के रूप में प्रकट

होती हैं। वाणी का ये भूषण हैं। सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति हैं। ये ब्रह्मा जी की पत्नी हैं।

स्मृति-चिरकाल के अनुभव किये हुए अर्थ को पुनः प्रकाशित कर देने वाली शक्ति को स्मृति कहते हैं। यह मनु पुत्री प्रसूति की कन्या हैं अङ्गिरा की पत्नी है।

मेधा—अनेकों ग्रन्थों के तात्पर्य को धारण करने की शक्ति का नाम मेधा है। किसी भाग्यशाली पर ही मेधादेवी की कृपा होती है। ये भी मनुपुत्री हैं। और धर्म की पत्नी हैं।

धृति—धैर्य का नाम है। आपत्ति-विपत्ति में शरीर तथा मन के थकित हो जाने पर भी शरीर तथा इन्द्रियों के समूह को विचलित न होने देने वाली शक्ति का नाम धृति है। ये भी मनु पुत्री हैं और धर्म की पत्नी हैं।

क्षमा—कोई अपराध भी कर दे और उसके प्रतीकार की शक्ति होने पर भी उसके प्रति क्रोध न करने का नाम क्षमा है। हर्ष का प्रसंग हो अथवा विषाद का दोनों में निर्विकार बने रहना, यही क्षमा का स्वरूप है। ये मनु की पुत्री और पुलह महर्षि की पत्नी हैं। ये सब धर्म आदि की पत्नियाँ लोक मातायें हैं। इन गुणों को जो धारण करते हैं वे भी संसार में आदर के भाजन बन जाते हैं। जिनमें इन सद्गुणों का कुछ भी अंश आ जाता है, वे विश्ववन्दित बन जाते हैं। इसीलिये इन गुणों की ये अधिष्ठातृ देवियाँ समस्त स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं, वन्दनीय हैं तथा मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"वेदों में तो सामवेद को आपने अपनी विभूति बताया, किन्तु गायन करने वाली विशेषगतियों में वृहत्-साम स्तुति में आपका स्वरूप क्या है ?"

सूतजी कहते हैं-"मुनियो! इसके आगे की विभूतियों का भगवान् जो वर्णन करेंगे उन्हें मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

मृत्यु जगत में जातें जग को नाश कराऊँ।
नाम मृत्यु मम सबनि पकरि यम सदन पठाऊँ॥
करें जगत उत्पन्न तिननि उत्पत्ति हेतु हौं।
भव-जल तारन हेतु सुहृद अति सुखद सेतु हौं॥
नारिनि में जो कीर्ति श्री, बानी, मेधा, धृति, क्षमा।
इस्मिति सद्गुन रहहिं जो, मैं ही तिनिमें हूँ सदा॥

भगवत् विभूतियाँ (६)

[१७]

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३५, ३६ श्लोक)

छप्पय

गायन करिवे जोग्य गीत जो हैं जग माहीं ।
तिनि सबमें हौं बृहत् साम यह गायक नाहीं ॥
छन्दनि में अति श्रेष्ठ कही गायत्री माता ।
मेरोई वह रूप द्विजनि की त्राता दाता ॥
मासनि में जो श्रेष्ठ अति, मार्गशीर्ष हौं ही कह्यो ।
ऋतुवसन्त मम रूप जो, भूप सबहिँ ऋतु को भयो ॥

---

* गायन करने वालो मे मैं बृहत्साम हूँ, छन्दों मे गायत्री, महीनों मे मार्गशीर्ष और ऋतुओ में बसन्त ऋतु मैं ही हूँ ॥३५॥

जितने छलने वाले काम हैं, उनमे मैं जूए का खेल मैं ही हूँ, तेजस्वियों मे तेज, जीतने वालों मे, जय, व्यवसायियों मे व्यवसाय और सात्विकभाव वालो में सत्त्व मैं ही हूँ ॥३६॥

प्राचीन काल में यज्ञ यागादि शुभ कर्मों में जो गान होता था, उसमें सामगान की ही प्रधानता थी। सामगान को यदि स्वर और लय के साथ किया जाय, और गान करने वाले का स्वर भी मधुर हो, तो वातावरण में एक विचित्र प्रकार की सरसता तथा मधुरता छा जाती है। सब वेदों में सामवेद को इसीलिये श्रेष्ठ बताया है कि वह ताल और लय के साथ गाया जाता है, उस समय भी सामगान करने वाले बहुत कम मिलते थे और अब तो उनका अभाव सा-हो गया है। सामवेद की ऋचाओं में भिन्न-भिन्न गतियाँ होती है। उन गति विशेषों में जो "त्वामिद्धि हवामहे" इस ऋचा में आरूढ़ गति विशेष है। इस गति का नाम 'वृहत्साम' है। यहाँ वृहत्साम से बड़ा सामवेद यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये। वृहत् साम का अर्थ हुआ सामवेद की ऋचाओं की जो गति हैं उनमें से आरूढ़ गति।

अतिरात्र यज्ञ में इन्द्र की सर्वेश्वर रूप से जो स्तुति की जाती है, उसे पृष्ट स्तोत्र कहते हैं। यह पृष्ठ स्तोत्र आरूढ़ गति में ही गाया जाता है। यह स्तोत्र अन्य ऋचाओं से श्रेष्ठ माना गया है, इसीलिये भगवान् ने आरूढ गति विशेष-अर्थात् वृहत्साम को सब ऋचाओं से उत्तम मानकर अपनी विशेष विभूति बताया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अपनी विभूतियों का आगे वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं—अर्जुन! सामों की ऋचाओं में वृहत्साम रूप गति विशेष मैं ही हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"छन्दों में आपकी विभूति कौन सी छन्द है।"

भगवान् ने कहा—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति त्रिष्टुप् और जगती ये सात वैदिक छन्द हैं। इन छन्दों में अक्षर

और पाद नियत रहते हैं। किस छन्द में कितने अक्षर रहेंगे के पाद की यह छन्द होगी। एक बार ये सब छन्द सोम लेने के लिये पारी-पारी से गयीं। पहिले सभी छन्द चार-चार अक्षरों वाली होती थीं। तब सबसे पहिले जगती छन्द सोम के अभिमुख होकर सोम लाने को गयी। वह सोम लाने में समर्थ नहीं हुई, उलटे वह अपने तीन अक्षरों को भी खोकर लौट आयी। वह एकाक्षरी छन्द रह गयी। इसके अनन्तर त्रिष्टुप् छन्द सोम के अभिमुख होकर सोम लाने गयी, उसे भी सोम की प्राप्ति नहीं हुई वह अपने एक अक्षर को खो कर चली आयी, तभी से त्रिष्टुप छन्द तीन अक्षरों वाली हुई। तदन्तर गायत्री छन्द सोम के अभिमुख होकर सोम लाने को गयी। वह सोम भी ले आयी और जगती तथा त्रिष्टुप के गँवाये हुए चार अक्षओं को भी ले आयी। चार अक्षर तो उसके पहिले ही थे, चार अक्षर सोम के साथ जीत कर लायी। तभी से गायत्री छन्द आठ अक्षरों वाली हो गयी। गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद हैं। गायत्री वेदों की माता है। जो समस्त वेदों का अध्ययन करने में असमर्थ हो, उसे कम से कम गायत्री की उपासना तो अवश्य ही करनी चाहिये, क्योंकि गायत्री सभी वेदो की सार भूता है। जितने भी अवतारी पुरुष हुए हैं, गायत्री का उपासना सभी ने की है। गायत्री द्विजातियों की माता है। द्विजातियों का एक जन्म तो माता के गर्भ से होता है, दूसरा जन्म तब होता है, जब उन्हें गायत्री मन्त्र की दीक्षा मिलती है। तभी उनकी 'द्विज' संज्ञा होती है अतः गायित्री द्विजातियों के दूसरे जन्म की कारण भूता माता है। गायत्री की उपासना प्रातः मध्यान्ह तथा सायं तीनों सवनों में अर्थात् तीनों कालों में करनी चाहिये। त्रिलोकी में गायत्री से बढ़ कर पावन बनाने

वाली अन्य कोई वस्तु है ही नहीं।

नित्य प्रति नियम से प्रणव तथा तीनों व्याहृतियों सहित गायत्री मन्त्र का जाप द्विजातियों को अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि गायत्री से बढ़कर पापों का शोधन करने वाला दूसरा पदार्थ कोई है ही नहीं। समस्त तीर्थों में गङ्गा जी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं स्वयंही द्रव रूप होकर गङ्गा बन गया हूँ। समस्त देवों में मैं ही विष्णु सर्व श्रेष्ठ देवता हूँ, क्योंकि सभी देवता मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं और समस्त मन्त्रों में गायत्री मन्त्र ही सर्व श्रेष्ठ मन्त्र है, वह वेदों की, द्विजों की सोम की तथा समस्त विश्व ब्रह्मांड की माता है। भवसागर में डूबते हुओं का गायत्री माता करावलम्ब देकर अपने हाथ का सहारा देकर उबार लेती है। अतः समस्त छन्दों में गायत्री छन्द मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन पूछा—"समस्त महीनों में कौन सा महीना आपकी विभूति है?"

भगवान् ने कहा—समस्त महीनों में मार्गशीर्ष ही मेरा ही स्वरूप है। मार्गशीर्ष मास समशीतोष्ण है, न उसमें गर्मी रहती है न विशेष जाड़ा। कातिकी अनाज जैसे धान, बाजरा, ज्वार, मूँग, उड़द आदि नवीन अन्न भी उसी महीने मे होते है। किसी-किसी के मत में यह नव वर्ष का भी आरम्भिक मास है। इसी मास में व्रज की कुमारियों ने कात्यायनी देवी का व्रत किया था। इसी महीने में स्त्रियाँ परमपावन पुसवन व्रत करती है। नवीन अन्न होने से चित्त प्रसन्न होता है। इस मास में एक विशेपता और है। सभी बीज भूमि में पड़े रहते हैं, वे आषाढ़ में ज्योंही पानी बरसता है, सब उग आते हैं। एक बथुआ ही ऐसा साग है, जो आषाढ़ में कितना भी पानी बरसे नहीं उगता। श्रावण

में भी नहीं, भाद्र पद, तथा क्वार में भी नहीं। जब दीपावली हो जाती है। मार्गशोर्ष महीने का आगमन होता है, तब मार्गशीर्ष का स्वागत करने के लिये यह उगता है। वथुआ उदर के समस्त विकारों के लिये, नेत्र की ज्योति के लिये रामवाण औषधि है। तभी तो इसका नाम शाक-राज अर्थात् सभी शाकों का राजा है। इसे राज-शाक भी कहते हैं अर्थात् राजाओं का शाक है। यह रेचक, हृद्य, नीरोग तथा ज्योति दाता है। और सब हरे साग तो नेत्र के लिये अहितकर हैं केवल जोवन्ती, मूल्याक्षी, मेघनाद (चौलाई) पुनर्नवा (सांठ) और वथुआ ये पाँच शाक ही नेत्र की ज्योति वढ़ाने वाले हैं। वथुआ का साग मार्गशीर्ष का भूपण है और संवत् सरका भूपण मार्गशीर्ष मास है। इसीलिये सब महीनों में यह मेरी दिव्य विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"सभी ऋतुओं में आपकी विभूति कौन सी ऋतु है ?"

भगवान् ने कहा—सभी ऋतुओं में कुसुमाकर वसन्त ऋतु ही मेरी विभूति है। वसन्त ऋतु वड़ी सुहावनी होती है। इसमें सभी वृक्षों में नवीन-नवीन कोपल निकल आते हैं। आमों में वौर आ जाता है, कोकिलकी कमनीय कूज सुनाई देने लगती है, सभी पुष्प खिल जाते हैं। ब्राह्मणों का उपनयन वसन्त ऋतु में होता है। ज्योतिप् नाम का यज्ञ वसन्त में हो आरम्भ किया जाता है। अधिक गर्मी पड़ने से पूर्व जो वसन्त की शोभा है, वह अपूर्व है। इसोलिये कुसुमाकर-पुष्पों की खान वसन्त को मेरी विभूति बताया है।

अर्जुन ने पूछा—"आपकी विभूतियाँ सब सात्त्विक ही हैं क्या ? सब उपकारी ही हैं क्या ?"

भगवान् ने कहा—उपकारी अपकारी का यहाँ प्रश्न नहीं।

यहाँ तो मैं अपनी सात्विकी, राजसी तामसी तीनों प्रकार की विभूतियों का विशिष्टता का वर्णन कर रहा हूँ। देखो, पशुओं में सिंह मेरी विभूति हैं, जलचरों में मकर मेरी विभूति है, वासुकी नाग सर्पों में मेरी विभूति हैं, ये सब जीवों को खा जाते वाले मार देने वाले हैं। शंकरजी मेरी विभूति हैं जो चराचर का प्रलय कर देने वाले हैं, अग्नि मेरी विभूति जो सबको भस्म कर देने वाले हैं। इस प्रकार चाहे सात्विक भाव वाले हो, राजस् अथवा तामस् भाव वाले औरों से जो विशिष्ट है, वे सब मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"जो दूसरों को छल करने वाली क्रिया हैं, उनमें आपकी विभूति कौन-सी क्रिया है?"

भगवान् ने कहा—छल करने वाली क्रियाओं में द्यूत-जूआ-क्रिया मेरी विभूति है। और क्रियाओं में तो धोखा देकर दूसरों को रुलाकर विवश करके छला जाता है, किन्तु जूए में तो हँसते-हँसते स्वेच्छा पूर्वक, उत्साह के साथ सबके देखते-देखते प्रसन्नता से छल किया जाता है। जूआ के कारण ही तो तुम लोगों को वनवास करना पड़ा। जूए के परिणाम स्वरूप ही तो यह महाभारत युद्ध हो रहा है। अतः द्यूत भी मेरा राजस् तामस् स्वरूप है विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"तेजस्वियों में आपका रूप कौन है?"

भगवान् ने कहा—"तेजस्वियों में तेज ही मेरी विभूति है। जो जितना ही अधिक तेजस्वी होगा, उतनी ही बड़ी मेरी विभूति मानी जायगी।"

अर्जुन ने पूछा—"जीतने वालों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—जीतने वालों में जय ही मेरी विभूति है। जिस समय जिसकी विजय हो जाय, उस समय वही मेरी विभूति

है। जब मुझे तामस भावों का प्रचार-प्रसार करना पड़ता है, तब में यक्ष राक्षसादि तामस शरीर में प्रवेश कर जाता हूँ, उनको बढ़ावा देता हूँ, उनकी विजय करा देता हूँ, उस समय वे ही विजयी मेरी विभूति हो जाते हैं। कभी राजसों में कभी सात्त्विकों में समयानुसार प्रवेश करके उन्हें विजित बना देता हूँ। अतः विजय मेरी विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"व्यवसायियों में आपकी विभूति कौन है ?"

भगवान् ने कहा—"विशुद्ध व्यवसाय स्वयं ही मेरी विभूति हैं। जिसके फल में कभी चूक नहीं पड़ती, जो सदा अव्यर्थ उद्यम है उसी का नाम व्यवसाय है। ऐसा अव्यर्थ उद्यम मेरी विशिष्ट शक्ति है।"

अर्जुन ने पूछा—"सात्त्विकों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—स्वयं सत्त्वगुण ही मेरी विभूति है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य रूप जो सत्त्व है, उसका जो कार्य सत्त्वगुण है, वह मेरी विशिष्ट शक्ति है।

अर्जुन पूछा—"वृष्णिवंशीय यादवों में आपकी विभूति कौन हैं। आप स्वयं तो समस्त विभूतियों के अधिष्ठान ही हैं। फिर वृष्णियों में भी तो आपकी कोई विशिष्ट विभूति होगी ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने स्वयं ही भगवान् से उनके वंश के विभूतिवान् पुरुष के सम्बन्ध में प्रश्न कर दिया, तो भगवान् यह सुनकर मुस्करा गये। अब जैसे वे अपनी आग्रिम विभूतियों का वर्णन करेंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

छल करिबे के साधन तिनि में जूआ मैं हूँ।
तेजस्विनि में तेज, तेज को धर्ता मैं हूँ॥
नानाविधि तें विजय करन जो-जो जहँ जावें।
तिनि सबमें ही विजय वेदवित मोइ बतावें॥
निश्चय जो जन करत हैं, उनको हौं निश्चय प्रबल।
सात्विक जन जितने जगत, सत्त्व रूप तिनिहौं सबल॥

भगवत् विभूतियाँ (१०)

[१८]

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३७, ३८ श्लोक)

छप्पय

वृष्णिवंश-अवतंस वृष्णिकुल-कमल-दिवाकर ।
वासुदेव तिनि माहिँ कह्यो हौं सब गुन आकर ॥
पांडुवंश-मनिमुकुट अग्रणी तिनिके माहीं ॥
मेरो पार्थ स्वरूप रूप औरनि को नाहीं ॥
मुनिनि माहिँ हौं व्यास हूँ, कर्यो ज्ञान उच्छिष्ट जिनि ।
कविनि माहिँ उशना कवी, कहें शुक्र आचार्य तिनि ॥

---

* मैं वृष्णी वंशियों में वासुदेव हूँ, पांडवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य मैं ही हूँ ॥३७॥

मैं दमन करने वालों में दण्ड हूँ, जीतने वालों में नीति, गुप्त रखने वालों में मौन और ज्ञानियों का ज्ञान मैं ही हूँ ॥३८॥

अंश और अंशी में कोई भेद नहीं है। चाहे सुवर्ण का सुमेरु पर्वत हो या चावल भर सुवर्ण हो, दोनों की ही सुवर्ण संज्ञा है। चाहे गोमुख से गंगा सागर तक बहने वाला गंगाजल हो अथवा एक छोटे पात्र में लाया गंगाजल हो, दोनों ही गंगाजल कहायेंगे और दोनों में ही पाप काटने की समान शक्ति है। अंश अंशी में मिलकर जब चाहे एक रूप हो सकता है, जब चाहें तब पुनः अंशी से पृथक् होकर उसी के गुण कर्म स्वभाव वाला पृथक् हो सकता है।

इसी प्रकार भगवान् सर्वव्यापक हैं, सर्वान्तिर्यामी हैं, इस सम्पूर्ण जगत् को वे एक अंश से व्याप्त करके स्थित हैं। इसीलिये जहाँ वे अपनी विभूतियों का वर्णन करते हैं, वहाँ स्वयं साक्षात् परब्रह्म स्वरूप अपने आपको भी विभूति रूप से ध्यान करने के निमित्त अपनी दिव्य विभूतियों में से एक विभूति बताते हैं। अर्थात् वे स्वयं समस्त विभूतियों से विभूषित परिपूर्ण विभूतिवान् है, फिर भी इस रूप में अपनी एक विशिष्ट विभूति ही बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने वृष्णिवंश में आपकी विभूति कौन है, यह प्रश्न किया, तब हँसते हुए भगवान् ने कहा—अर्जुन ! वृष्णिवंश में तो मेरी विभूति वसुदेव जी के पुत्र वासुदेव है।

अर्जुन ने कहा—"वासुदेव तो भगवन् ! मुझे शिक्षा देने वाले, मेरे रथ को हाँकने वाले आप ही हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, वासुदेव मैं ही हूं, मैं स्वयं भी अपनी एक विभूति हूं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने वृष्णिवंश में अपने को ही अपनी विभूति बताया, तब अर्जुन के मन में जिज्ञासा

हुई, कि हमारे पाडुवंश में हम पांडवों में भगवान् की विभूति कौन हो सकते हैं। हमारे ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई धर्मावतार युधिष्ठिर ही हम सब में विभूति होंगे। यह सोचकर वे पूछने लगे—"भगवन्! हम पाण्डवों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"यह भी भला कुछ पूछने की बात है, जब वृष्णीवंश में मैं तुम्हारा सखा वासुदेव विभूति हूँ, तो पांडवों में तुम धनञ्जय मेरी विभूति हो। इसके पूर्व हम तुम दोनों सगे भाई नर और नारायण नाम के ऋषि थे। इस प्रकार जो तुम हो वही मैं भी हूँ, तुममें और मुझमें अणु मात्र भी भेदभाव नहीं। कुछ भी अन्तर नहीं। तुम विभूति तो जो हो सो हो ही तुम तो साक्षात् मेरे स्वरूप ही हो।"

तब अर्जुन ने पूछा—"समस्त मुनियों में आपकी विभूति कौन से मुनि है?"

भगवान् ने कहा—मननशील मुनियों में श्री कृष्णद्वैपायन व्यासजी ही मेरी विभूति हैं। इन्होंने समस्त ज्ञान को उच्छिष्ट कर दिया। यह संसार भर का सम्पूर्ण ज्ञान व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है कोई भी कवि, कोई भी आविष्कारक कोई भी ज्ञानी ऐसी कोई नवीन बात नहीं कह सकता जिसका किसी न किसी रूप में व्यासजी ने वर्णन न किया हो। इन्होंने ही समस्त वेदों का व्यास अर्थात् विभाग किया हैं, महाभारत जिसे पंचमवेद भी कहते हैं, उसकी रचना भी इन्होंने ही की है। समस्त पुराणों का प्रणयन संकलन इन्होंने किया है। ये ज्ञान के अवतार हैं, मेरे स्वरूप ही हैं तथा मेरी परम दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"कवियों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—महर्षि भृगु के पुत्र, दैत्य दानवों के गुरु, परमनीतिज्ञ शुक्राचार्य ही कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। ये

समस्त विद्याओं के विशारद हैं शिव जी की आराधना करके इन्होंने मृत संजीवनी विद्या प्राप्त की थी। इन्हीं को कवि या काव्य भी कहते हैं। ये मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"दमन करने वालों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—दमन करने वालों में जो दमन की शक्ति है। निग्रह करने की, अजितेन्द्रियों को सन्मार्ग पर लाने की, तथा उत्पथ प्रवृत्ति को रोकने की सामर्थ्य है, वही दमनशक्ति अर्थात् दण्ड मै ही हूँ वही मेरी विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"विजय चाहने वालों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—विजय चाहने वालों में नीति मेरी विभूति है। जिस न्यायपूर्वक नीति से विजय प्राप्त हो वह नीति मेरा स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—"गुप्त रखने वाले भावों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—गोपनीय वस्तुओं में मौन भाव ही मेरी विभूति है। जो मौन है उसके भावों को लोग कठिनता से समझ सकते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञानवानों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान ने कहा—ज्ञानवानों में तो ज्ञान ही मेरी विभूति है। इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, अतः ज्ञान मेरी सर्वश्रेष्ठ विभूति है।

अर्जुन ने कहा—बस, भगवन्! जब ज्ञान को ही आपने अपनी विभूति बता दिया तो फिर कुछ पूछना भी शेष नहीं रहा। मै सोचता हूँ चराचर जगत में ऐसी कोई भी वस्तु न होगी जो

आपसे रहित हो। सबमें कुछ न कुछ विभूति आपकी विद्यमान होंगी ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब भगवान् जैसे अपनी विभूतियों का उपसंहार करेंगे। उसका वर्णन में आगे करूँगा।

छप्पय

सब दमननि में दण्ड कहाऊँ अरजुन प्यारे।
होवें सबको दमन शक्ति मम एक सहारे॥
नीति सहित जग जीति जगत में जयी कहाऊँ।
जामें जो जय होय नीति हौं वही कहाऊँ॥
गुह्यनि में अति गुह्य जो, मौन भाव मम रूप है।
ज्ञाननि में अति श्रेष्ठ जो, मेरो ज्ञान स्वरूप है॥

भगवत् विभूतियों का उपसंहार

[१६]

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३६, ४०, श्लोक)

छप्पय

अरजुन! तू यों समुझि जगत में जो कछु दीसत।
चर होवै वा अचर जगत के सकल पदारथ॥
सब भूतनि को आदि बीज मोकूँ ई जानों।
अरजुन! मेरी बात सत्य करिकें तुम मानों॥
थावर जंगम चर अचर, जग में जितने भूत हैं।
कोई मोतैं रहित नहिं, सब मोमें अनुसूत हैं॥

भगवान् जैसे अनंत हैं, वैसे ही उनकी विभूतियाँ भी अनंत हैं। इन विभूतियों के वर्णन करने का तात्पर्य इतना ही, कि जैसे हंडी के असंख्यों चावलों में से कुछ चावल निकाल कर यह ज्ञान

---

* हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह मैं ही हूँ। चराचर मे ऐसा कोई प्राणी नही है, जो मेरे मे रहित हो॥३९॥

हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियो का अन्त नही। यह जो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार बताया है, यह तो बहुत ही सक्षेप से कहा है॥४०॥

हो जाय कि पके या नहीं। इसीलिये भगवान् ने बहुत ही संक्षेप में अपनी कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विभूतियों के नाम गिना दिये। श्रीमद्भगवत् गीता जी की ही भाँति श्रीमद्भागवत् में भी भगवान् ने उद्धवजी के पूछने पर अपनी कुछ विभूतियों का वर्णन किया है। अपनी विभूतियों के बताने के पूर्व भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने वहाँ यह स्पष्ट कर दिया है, "कि जिस समय कुरु क्षेत्र में कौरव पाडवा का युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय शत्रुओं से युद्ध के लिये तत्पर अर्जुन ने मुझसे इसी प्रकार का प्रश्न पूछा था। अर्जुन के मन में ऐसी धारणा हो गयी थी, कि कुटुम्बियों को मारना, और वह भी राज्य के निमित्त बहुत ही निन्दनीय अधम कार्य है, साधारण पुरुषों के समान वह यह सोच रहा था, कि मै मारने वाला हूँ और ये मरने वाले हैं। यह सोचकर वह युद्ध से उपरत हो गया। तब मैने रणभूमि में अनेकों युक्तियाँ देकर वीर शिरोमणि अर्जुन को बोध कराया। उसी समय अर्जुन ने भी मुझ से अपनी विभूतियों के सम्बन्ध में ऐसे ही प्रश्न किया था जैसे तुम कर रहे हो।"

इतना कह कर भगवान् ने गीता की ही भाँति अपनी कुछ मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन किया। उस वर्णन में और इस भागवत के वर्णन में कुछ साधरण सा अंतर है। उसका होना स्वाभाविक ही है। भागवत से और गीता को विभूतियों से मिलान करने पर वह अंतर स्पष्ट हो जायगा। जैसे गीता में भी प्राणियों में भगवान् ने अपने को आत्मा बताया है और भागवत में भी। गीता में ज्योति वालों में केवल सूर्य को बताया है भागवत में अग्नि, सूर्य चन्द्रमा तीनों को बताया है। गीता में, वेदों में साम-वेद को तथा भागवत् में वेदों में हिरण्यगर्भ को बताया है गीता में इन्द्रियों में मन को और भागवत में कठिनाई से जीतने वालों में

मन को। गीता में रुद्रों में शंकर को और भागवत में नीललोहित को, शंकर का ही ही नाम है। गीता में पुरोहितों में वृहस्पति बताये हैं, भागवत में वसिष्ठ को, भागवत में वृहस्पति जी को वेदज्ञों में विभूति बताया है।

गीता में आयुधों में वज्र बनाया है और भागवत में धनुष को। गीता में गन्धर्वों में चित्ररथ को भागवत में विश्वावसु को। गीता में पवित्र करने वालों में केवल वायु को बताया। भागवत में अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा को। गीता में शस्त्र धारियों में राम को बताया भागवत में धनुर्धारी त्रिपुरारी को। गीता में नारियो में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा को बताया, भागवत में स्त्रियो में शतरूपा को गीता में वृष्णिवंशियों में वासुदेव को तथा भागवत में विशिष्ट भगवानों में वासुदेव को। गीता में पांडवों में अर्जुन को बताया भागवत में वीरों में अर्जुन को। और सब विभूतियाँ ज्यों की त्यों हैं। भागवत में गीता से कुछ अधिक विभूतियों का वर्णन है। जैसे गतिशील पदार्थों में गति, गुणों में मूलभूता प्रकृति पदार्थों में गुण, गुणियों में सूत्रात्मा, सूक्ष्म वस्तुओ में जीव प्रजापनियों में दक्ष, औषधियों में सोमरस, धातुओं मे सुवर्ण, आश्रमों में संन्यास, वर्णों में ब्राह्मण, धान्यों में जौ, सन्मार्ग प्रवर्तकों में ब्रह्मा, व्रतों में अहिंसा, अष्टाङ्ग योगों में समाधि, विजयेच्छुओं में मंत्रबल, कौशलो में आत्म अनात्म कौशल, ख्याति वादियों में विकल्प. पुरुषों में स्वायं भुव-मनु, मुनीश्वरों में नारायण, ब्रह्मचारियों में सनत् कुमार, धर्मों में संन्यासधर्म, अभयों में आत्मानुसंधान, स्त्री और पुरुष दोनों में प्रजापति, युगों में सत्युग, विवेकियों में देवल और असित, प्रेमो भक्तों में उद्धव किंपुरुषों में हनुमान, विद्याधरों में सुदर्शन, रत्नों में पद्मराग, सुंदर वस्तुओं में कमल, तृणों में कुशा, हविष्यों में

गोघृत, व्यापारियों में लक्ष्मी, वलियों में उत्साह तथा पराक्रम, सात्वत जो वैष्णव हैं उनकी जो परम पूज्य वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा इन नव मूर्तियों में आदि मूर्ति वासुदेव, अप्सराओं में ब्रह्माजी को सभा की पूर्वचित्ति, पर्वतों में स्थिरता, पृथ्वी में गंध, जल में रस, आकाश में शब्द, पैरों में चलन शक्ति, वाणी, में बोलने की शक्ति, पायु में मलत्याग की शक्ति, हाथों में पकड़ने की शक्ति, उपस्थ मे आनन्दोपभोग की शक्ति, त्वचा में स्पर्श शक्ति नेत्रों में देखने की शक्ति, रसना में रसास्वादन की शक्ति, कानों में सुनने की शक्ति, समस्त इन्द्रियों में इन्द्रिय शक्ति। पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहंकार, महत्तत्व, पंचतन्मात्रा, जीव, अव्यक्त, प्रकृति, सत्व, रज तम इनमे परे रहने वाला ब्रह्म मैं ही हूँ।

अन्त में भगवान् ने कह दिया है, मै ही सबकी एक मात्र आत्मा हूँ। मेरे अतिरिक्त कोई भी पदार्थ, कहीं भी विद्यमान नहीं है। यदि मैं चाहूँ तो समस्त परमाणुओं की तो गणना कर सकता हूँ, किन्तु अपनी समस्त विभूतियों की गणना मै स्वयं भी करने में समर्थ नहीं हूँ।

उद्धव से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! तुम सोचो तो सही जब मेरे रचे कोटि-कोटि असंख्यों ब्रह्माण्डों की भी गणना नहीं हो सकती तब फिर मेरी विभूतियों की गणना तो हो ही कैसे सकती है। बस, तुम संक्षेप में इतने मे ही समझ जाओ कि संसार में जितने भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और ज्ञान विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हैं, वे सब मेरे ही अंश हैं।"

इस प्रकार भगवान् ने अपनी विभूतियों को अगणित-असंख्य-कभी भी गणना करने के अयोग्य बताया। उसी बात का उपसंहार करते हुए भगवान् गीता जी में कह रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् अपनी विभूतियों का उप संहार करते हुए कह रहे हैं—"अर्जुन ! तुमसे अब अधिक क्या कहूँ, तुम इतने में हो समझ जाओ कि समस्त चराचर भूतों का जो बीज कहलाता है, वह सबका एक मात्र बीज मैं ही हूँ। चाहे जंगम हो या स्थावर हो, चर हो अचर हो, जड हो या चैतन्य संसार की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो मुझसे रहित हो। यह जो दृश्य प्रपञ्च में जो भी कुछ देखा, सुना या अनुमान किया जा सकता है वह सब मेरा ही कार्य है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आपकी विभूतियों के श्रवण में तो बडा आनन्द आता है, कुछ विभूतियों का वर्णन और करें।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अर्जुन ! कहाँ तक वर्णन करें। मेरी दिव्य विभूतियों का तो कहीं अंत नहीं अवसान नहीं, समाप्ति नहीं, इयत्ता नहीं। यह वर्णन भी मैंने बहुत ही संक्षेप में संकेत रूप से अंशतः ही किया है।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा तो हमें कोई ऐसी परिभाषा बता दीजिये। जिसके द्वारा हम आपकी विभूतियों को पहिचान सकें।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् अपनी विभूतियों की संक्षिप्त परिभाषा बतावेंगे, जैसे इस विभूति योग की परि समाप्ति करेंगे उसे मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

पूछीं सकल विभूति कहाँ तक तुमहिं सुनाऊँ।
मेरी अनंत विभूति कहाँ सचु बात बताऊँ॥
एक एक करि तोइ सुनाऊँ सकल विभूती।
होहि अंत त्यों नहीं द्रौपदी साड़ी सूती॥
ये तो अति संक्षेप में, कछु विभूति अपनी कहीं।
इनि सबकूँ हे परंतप, पूरी तुम समुझो नहीं॥

समष्टि रूप कहकर विभूतियोग की समाप्ति

[२०]

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ४१, ४२ श्लो०)

छप्पय

समुझो मेरी बात सार को सार सुनाऊँ ।
सबको जो गुरु मन्त्र ताहि फिरि तैं बतलाऊँ ॥
जिनिकूँ देखो अति विभूतियुत पावन प्रानी ।
सब ऐश्वर्य समेत कान्तियुत मनहर बानी ॥
शक्तियुक्त अति शौर्ययुत, तुम्हें जगत में जो दिखत ।
तेज अंश अभिव्यक्ति मम, विज्ञ रूप तिनि मम लखत ॥

---

* तुम इतना ही समझो कि जो-जो भी विभूतिवान्, श्रीमान्, शक्तियुक्त वस्तुएँ हैं, वे सब मेरे ही तेज अंश से सम्भव हैं ॥४१॥

अथवा हे अर्जुन ! अत्याधिक जानने से क्या लाभ बस, इतना ही समझो, इस सम्पूर्ण जगत को मैं अपने एक ही अंश से धारण करके स्थित हूँ ॥४२॥

यह सम्पूर्ण जगत एक अद्वय परमब्रह्म परमात्मा की ऐश्वर्य भति है। भगवान् समस्त चराचर में व्याप्त हैं। तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो ब्रह्म से रहित हो। सर्वान्तर्यामी रूप से भगवान् सबमें व्याप्त हैं, किन्तु जहाँ पर सद्गुण विशेष रूप से प्रकट हों, वहाँ समझना चाहिये भगवान् का प्रकाश विशेष रूप से है। तीनों गुणों में से किसी भी गुण की जहाँ विशेष उपलब्धि हो उसे ही विभूतिवान् समझना चाहिये। सद्गुणों में से जैसे सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भयता, स्थिरता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, आस्तिकता, कीर्ति गौरव, निरहंकारिता, आत्माभिमान आदि और भी सद्गुण हैं, जिनमें इन गुणों में से किसी एक गुण की विशेषता हो वही विभूतिवान् पुरुष है।

ये जो अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व तथा कामावशायिता जो अष्ट सिद्धियाँ हैं इनमें से एक भी सिद्धि जिसमें आ जाय वह भी विभूतिवान् पुरुष है।

षडैश्वर्यों में से कोई भी ऐश्वर्य की जिसमें अधिकता हो जाय वह ऐश्वर्यवान् पुरुष भी भगवान् की विशेष विभूति है। राज्यश्री, ब्राह्मीश्री, लक्ष्मी, सम्पत्ति शोभा इनमें से किसी से युक्त पुरुष हो वह विभूतिवान् कहलायेगा।

किसी भी योनि में किसी भी वर्ग में जो विशिष्ट व्यक्ति हैं, वे विभूतिवान् माने जाते हैं। जैसे ब्राह्मणों में कोई परम तपस्वी, तेजस्वी, शीलवान्, सदाचार सम्पन्न विद्वान् है। ब्राह्मी श्री से सम्पन्न है। वह ब्राह्मणों की विभूति है।

क्षत्रिय हैं उनमें जो तेजस्वी प्रभावशाली, दक्ष शूरवीर तथा निर्भीक है, प्रजावत्सल है, संग्राम से डरने वाला नहीं है। वह क्षत्रियों की विभूति है।

वैश्य हैं, उनमें जो दानधर्म परायण, परमभाग्यशाली, धनिक सदाचारी परोपकार परायण है वह वैश्य वंशावतंस वैश्यों की विभूति है।

शूद्रों में जो विनम्र, आज्ञाकारी, सेवा परायण, सुशील, सदाचारी वयोवृद्ध, उचित अनुचित का विचार करके कार्य करने वाला हो तो, वह शूद्रों की विभूति है।

साड़ों में जो अधिक हृष्ट पुष्ट, बली, बड़े ककुद् वाला, वीर्यवान् तथा पराक्रम शाली है, वह साँड़ों की विभूति है।

स्त्रियों में जो सती साध्वी, पति परायणा, सबके साथ उचित वर्ताव करने वाली धर्मशीला सदाचार सम्पन्ना है वह स्त्रियों में विभूति है।

इसी प्रकार सभी वर्गों में, सभी वर्णों में, सभी आश्रमों में, सभी योनियों में, सभी स्थावर जंगमों में जो विशिष्ट श्री सम्पन्न हों उन सब को भगवान् की विशेष विभूति ही मानना चाहिये। और तो क्या चराचर विश्व में भगवत् बुद्धि करनी चाहिये यही विभूति योग का अन्तिम लक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने विभूति समझने का एक सार सिद्धान्त पूछा, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन तुम्हें मैं अपनी विभूति समझने की एक सरल विधि बताता हूँ, जो संसार में जिसे भी तुम ऐश्वर्यशाली श्रीसम्पन्न, लक्ष्मीवान् श्रीमान् शोभा सम्पन्न कान्तियुक्त तेजस्वी, पराक्रमी, शक्तिशाली बलवान्, आभासम्पन्न तथा विशिष्ट गुणयुक्त देखो, उन सब को

मेरी ही विभूति युक्त समझ लो। जहाँ-जहाँ तुम कोई विशेषता देखो वहाँ-वहाँ जान लो उसमें मेरे तेज का विशेष अंश है।

अर्जुन ने पूछा—"जैसे भगवन्! आपने इतनी विभूतियाँ बतायी हैं, वैसे ही कुछ ऐश्वर्य युक्त, लक्ष्मीसम्पन्न, शोभा और कान्तिमय अपनी कुछ अतिशय प्रभावशाली शक्तियों के सम्बन्ध में और बतावें? उनके कुछ नाम और गिनावें।"

भगवान् ने हंसकर कहा—अर्जुन! इन सब बातों के बहुत जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सधेगा?

अर्जुन ने कहा—"मैं उनके द्वारा विशिष्ट-विशिष्ट वस्तुओं में आपके दर्शन करने की चेष्टा करूँगा।"

भगवान् ने कहा—मेरा दर्शन ही करना चाहते हो तो अपनी दृष्टि को परिच्छिन्न बनाने से काम न चलेगा। उससे विशेष लाभ न होगा। मुझे तुम सर्वत्र देखने की चेष्टा करो। मेरे अतिरिक्त चराचर में तुम अन्य किसी को सत्य समझो ही नहीं। देखो, जो यह दृश्य प्रपञ्च देखा अथवा सुना जाता है, यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड मेरे एक देश मात्र में अवस्थित है। ये चराचर सम्पूर्ण भूत मेरे एक पाद में-चार में से एक भाग में-अवस्थित है मेरे अमृतमय तीन पाद तो द्युलोक में हैं इसलिये तुम मेरी अवयव रूपा विभूतियों को विशेष सुनकर क्या करोगे। तुम तो समष्टि रूप में मुझे समझने का प्रयत्न करो। सब मैं ही मैं हूँ। मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी ज्ञान को स्थिर करो।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने अपने को व्यष्टि रूप में न देखकर विराट रूप में देखने को कहा, तो अर्जुन ने भगवान् का प्रत्यक्ष विराटरूप देखने की जिज्ञासा की। अब जैसे

अर्जुन ने विराट रूप दिखाने को भगवान् से प्रार्थना की है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बहुत कहाँ तक कहूँ, बात कब तलक बढ़ाऊँ।
निज भूपति के गीत कहाँ तक गाइ सुनाऊँ॥
अरजुन! इतनो जानि अनत मति चित्त चलावै।
बात बितन्डा बढ़ै तऊ तू समझि न पावै॥
मैं सबरे या जगत निज, योग शक्ति इक अंश तें।
धारन करि निरलेप बनि, पृथक रहूँ सब वंश तें॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्री मद्भगवत् गीता उपनिषद् ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में है, उसमें "विभूति योग" नामका दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥१०॥

[इसके आगे की कथा अगले अङ्क में पढ़िये]